KABIR
AUR SAMAJIK ASMITAON KA PRASHAN

Dissertation submitted to the Jawaharlal Nehru University
in partial fulfillment of the requirements
for the award of the Degree of

MASTER OF PHILOSOPHY

KAMAL AHMAD

CENTRE OF INDIAN LANGAUGES
SCHOOL OF LANGUAGE, LITERATURE & CULTURE STUDIES
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI – 110 067
INDIA
2001

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, India

Centre of Indian Languages

Dated: 04.01.2001

DECLARATION

I declare that the material in this dissertation entitled **"KABIR AUR SAMAJIK ASMITAON KA PRASHAN"** submitted by me is original research work and has not been previously submitted for any other degree of this or any other university/institution.

KAMAL AHMAD
(Name of the Scholar)

DR. PURUSHOTTAM AGRAWAL
(Supervisor)
Centre of Indian Languages
School of Language,
Literature & Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

PROF. GANGA PRASAD VIMAL
(Chairperson)
Centre of Indian Languages
School of Language,
Literature & Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

समर्पित ....

अम्मी, अब्बा, रिमझिम

और **मिल्टन**

को

विषय-सूची

	पृष्ठ संख्या
भूमिका	क - ज
अध्याय-1	
कबीर मूल्यांकन के प्रश्न	1 - 22
अध्याय-2	
सामाजिक अस्मिता की अवधारणा	23 - 34
अध्याय-3	
कबीर और समकालीन अस्मिता विमर्श	35 - 53
अध्याय-4	
कबीर की कविता और उनकी अस्मिता	54 - 70
उपसंहार	71 - 73
संदर्भ ग्रंथ सूची	74 - 76

****

भूमिका

तब मैं पटना विश्वविद्यालय में स्नातक का छात्र था । हिंदी प्राध्यापकों द्वारा कबीर के पुत्र के रूप में अपने आपको सम्बोधित किया जाना गौरव की बात समझता था । यूँ तो कबीर की साखियों का शौकिन मैं बचपन से ही था, भले ही उस वक्त कबीर की कविता के मर्म को न समझ पाता रहा हूँ । पर जैसे-जैसे साहित्य में दिलचस्पी बढ़ी कबीर के प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक ही था । स्नातकोत्तर की कक्षा में भक्तिकाल विशेष अध्ययन के क्रम में कबीर से पाला पड़ा । यह अफसोस की बात है कि पटना विश्वविद्यालय में आज भी भक्त कवियों के दार्शनिक विचारों को ही प्राथमिकता दी जाती है । मैं भी एक सामान्य विद्यार्थी की तरह कबीर के दर्शन और रहस्यवाद में खुद को उलझाता रहा ।

उच्च शिक्षा हेतु 'पाटलिपुत्र' से 'इन्द्रप्रस्थ' आगमन को मैं अपने जीवन के निर्णायक क्षणों में शुमार करना चाहूँगा । जे. एन. यू. में एक शोध छात्र के रूप में साहित्य और समाज के रिश्ते को बखूबी जान सका । सच कहूँ तो साहित्य को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में आँकने की प्रगतिशील दृष्टि का निर्माण भी यहीं हुआ । स्वभाव से अक्खड़, वृत्ति से फक्कड़ और स्थान से घुमक्कड़ एक क्रांतिकारी व्यक्तित्व कबीर की भक्ति के सामाजिक अर्थ की खोज मैंने शुरू की । गुरू पुरूषोत्तम अग्रवाल के सहयोग से मैं अपनी संकीर्ण मानसिकता से दूर होता चला गया । संकुचित अध्ययन सीमा को विस्तार देता हुआ ज्यों-ज्यों कबीर के काव्य में डूबकी लगाता चला गया, मेरी दृष्टि विकसित होती चली गई । एक ऐसे संघर्षशील पुरूष की व्यथा-कथा जो आखिरी साँस तक समाज से विद्रोह करता रहा हो मेरे शोध का विषय बन चुका था ।

पूरे मध्यकाल में कबीर ही एक ऐसा चरित्र है जो सामान्य जन की बात सोचता रहा । संघर्ष और विराम के बीच सिमटी हुई यह छोटी-सी

जिन्दगी और उस जिन्दगी के एक खास अंतराल में कबीर जैसे शख्सियत का आगमन मेरी मानसिक बुनावट और बौद्धिक क्षमता के विस्तार में सहायक ही सिद्ध हुआ । कबीर को जानना एक बात है और कबीर को समझना दूसरी बात । जे. एन. यू. आने से पूर्व मैं समझता था कि कबीर का उत्तराधिकारी सिर्फ मैं ही हूँ और इसके पीछे सिर्फ एक तर्क था कि मेरा नाम "कमाल" है, और मैं जुलाहा जाति से ताल्लुक रखता हूँ । कबीर को समझने के लिए मैंने कबीर को पढ़ना शुरू किया, धीरे-धीरे संकीर्णता और पूर्वाग्रहों से मुक्ति मिलती चली गई । कबीर ने जिस प्रेम मार्ग की स्थापना की थी, उस मार्ग पर मुझ जैसे क्षुद्र शोधार्थी के लिए आगे बढ़ना असंभव ही था और है । भावी जीवन में अगर कबीर के मार्ग का अनुसरण कर सका तो अपने इस शोध-कर्म को सफल मानूँगा । खैर, इस अकादमिक कर्तव्य के लिए मैंने कबीर को पढ़ना शुरू किया ।

कबीर किसी प्रकार के लौकिक बंधन के कायल नहीं थे । वर्ण, धर्म, मजहब, सम्प्रदाय, जाति या फिर विभिन्न प्रकार के साधनागत स्तरों को अस्वीकृत करके ईश्वर के समक्ष मनुष्य की समानता की बात करने वाले एकमात्र मध्यकालीन कवि कबीर ही थे । सभी मनुष्यों में ईश्वर है, ऐसा मानकर मानव जाति की भावात्मक एकता का उद्घोष कबीर की सामाजिक चिन्ता का केन्द्रीय पक्ष था । कबीर ने तर्क और विवेक की भूमि पर खड़े होकर समाज-व्यवस्था की आलोचना की और आस्था और विश्वास के साथ भक्ति-सापेक्ष मूल्यों की वकालत की । जब मैंने कबीर के मूल्यांकन संबंधी पुस्तकों का अध्ययन शुरू किया तो साहित्य की मायावी दुनिया में भटकता ही चला गया । कबीर मुझे कई रूपों में दिखने लगे और यह प्रश्न गंभीर चिंता का विषय मेरे लिए बन गया । कबीर की प्रतिष्ठा साहित्य में एक कवि होने के कारण है, इसलिए इस युगान्तकारी कवि के क्रांतिकारी व्यक्तित्व को समझने के लिए उपलब्ध मूल पाठों का भी मैंने सहारा लिया ।

वर्तमान समय में दलित आन्दोलन के साथ कबीर को जोड़ा जाने लगा है । किसी सांस्कृतिक कलाकार को प्रेरणा-स्रोत मानना उचित है पर अपने धर्म को प्रतिष्ठित करने के लिए उस प्रेरणा-पुरूष को साक्षात भगवान मान लेना साहित्य और इतिहास के साथ सिर्फ खिलवाड़ ही है । "कबीर पर कब्जे" की मुहिम के तहत वर्तमान साहित्य के तथाकथित दलित चिंतक अपने राजनीतिक प्रोजेक्ट के लिए कबीर के पदों की गलत व्याख्या करने में लगे हुए हैं । जिस कबीर ने भारत की जन-चेतना को आंदोलित करते हुए मानवीय अस्मिता के निर्माण का प्रयत्न किया, उसी कबीर को कुछ दलित प्रेमी अपनी पृथक पहचान के लिए "मसीहती" और "पैगम्बरी" का दर्जा देने को कृतसंकल्प हैं । एक प्रकार से कवि को साहित्य से निकाल कर धर्म-ग्रंथ में कैद करने की प्रक्रिया चल रही है । जिस कबीर ने ईश्वर के आतंक से मनुष्य मात्र को मुक्ति की राह दिखलाई, उसे ही ईश्वर माना जाने लगा है ।

जिस कबीर का दुःख बोध वैयक्तिक जीवन से निकल कर सार्वजनिक दुःख में बदल जाता है, अब अगर उस दुःख को किसी जाति विशेष के वैयक्तिक दुःख की सीमा रेखा तक सीमित कर दें, तो ठीक नहीं । प्रेम, स्नेह और श्रम के मूल्य का एक सम्पूर्ण मनुष्य बनने की कल्पना जो कबीर ने की थी, वह विखंडित होता नजर आ रहा है । कबीर का आविर्भाव राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का आग्रहपूर्ण आमंत्रण था । उन्होंने एक ऐसे विश्व-धर्म की कल्पना की थी, जिसमें सारा जन-जीवन अपनी व्यावहारिकता में उतर सके । कबीर के लिए स्वतंत्र अस्मिता के निर्माण का प्रश्न बेमानी था । वे समाज के सभी लोगों के प्रेरणा-स्रोत हैं । जब तक मनुष्य जगत में फर्क, नफरत, हिंसा, शोषण और मनुष्येत्तर संलग्नताएं रहेगी, कबीर की कविता मानवीय चेतना के उत्कर्ष में पहचान बनकर अपने "होने" का एहसास बनेगी ।

कबीर एक साहित्यिक पुरूष और सांस्कृतिक कलाकार थे, जिनकी वाणी से सभी मनुष्य अपना तादात्म्य स्थापित कर सकता है । मेरे इस लघु शोध-प्रबंध की मुख्य चिन्ता यही है कि कबीर को अपने हक के लिए इस्तेमाल न करके उनकी कविता का आस्वाद प्रखर सामाजिक चिंता के रूप में करना ही श्रेयस्कर होगा । वे कवि थे, भारतवर्ष के कवि थे, समूचे विश्व के कवि थे ।

भारतीय साहित्य के सर्वश्रेष्ठ जन कवि कबीर अपने आविर्भाव काल से लेकर वर्तमान काल के उपस्थित क्षणों तक समाज में स्वीकार या अस्वीकार के रूपों में उपस्थित रहे हैं । जहाँ तक उनके मूल्यांकन का प्रश्न है, अनेकशः विद्वानों, चिन्तकों, विचारकों, इतिहासकारों आदि ने अपने-अपने तर्क के आधार पर मूल्यांकन किया है । चूँकि अकादमिक विमर्श में कबीर को उन्नीसवीं सदी का उत्पादन माना जाता है और उनके पदों की वैज्ञानिक खोज शुरू होती है । इसलिए प्रथम अध्याय "कबीर : मूल्यांकन के प्रश्न" में मैंने उन तमाम अंग्रेजी और हिंदी के विद्वानों की दृष्टियों को सामने लाने का प्रयास किया है, जो मूल कबीर की खोज के लिए मार्ग-प्रशस्त करते हों । ग्रियर्सन, एम. ए. मैकालिफ, जी. एच. वेस्टकॉट एफ. ई. के., एवलिन अंडरहिल, सी. जे. एडम्स, सर विलयम हंटर आदि अंग्रेज विद्वानों और रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्याम सुन्दर दास राम कुमार वर्मा, अली सरदार जाफरी, विश्वनाथ त्रिपाठी, मैनेजर पाण्डेय, नामवर सिंह, इरफान हबीब, पुरूषोत्तम अग्रवाल, धर्मवीर, शंभूनाथ, प्रेमशंकर आदि विद्वानों की मूल्यांकन दृष्टियों की पड़ताल की गई है ।

"अस्मिता की समस्या" बहुत सारे अर्थों में आधुनिक समाज की देन है । अस्मिता एक अवधारणा के रूप में आधुनिक सामाजिक सिद्धान्त एवं राजनीतिक परिचर्चा में महत्वपूर्ण है । व्यक्ति विशेष अपनी पहचान

एक नहीं दो धरातलों पर बनाता है । एक वो जो उसका निजी व्यक्तिगत लघु समाज है जिसका वह अभिन्न अंग है । दूसरा है वृहत समाज, जिसमें वह प्रवेश पाना चाहता है ताकि वह अपने आपको बाह्य जगत से जोड़ सके एवं किसी प्रभुत्व इकाई का भाग बन सके । किसी भी समाज या परिवेश में व्यक्ति अपने आपको जिस विशिष्टता एवं ढर्रा पर पहचानने की कोशिश करता है, वही उसकी अस्मिता होती है । द्वितीय अध्याय "सामाजिक अस्मिता की अवधारणा" में अस्मिता के सैद्धांतिक पक्ष पर विचार किया गया है । व्यक्ति की अस्मिता के लिए "समाज" का अस्तित्व बोध आवश्यक है । व्यक्तियों की सीमित वृत्तियों में जैसे-जैसे सह-अस्तित्व, समता-भाव, सहिष्णुता आदि समष्टिपरक वैचारिकता आती जाती है, वैसे-वैसे वह सामाजिक चेतना में प्रवेश करता जाता है । जिस प्रकार चिकित्सा-शास्त्र और समाज-शास्त्र ने धर्मगत अस्मिता की अवधारणाओं को कुचल दिया है उसी प्रकार वर्णाश्रम के कर्म की अवधारणा को कबीर ने अपने समय में निर्गुण भक्ति के माध्यम से कुचला था ।

भारतीय संस्कृति में दलित चेतना का उत्थान एवं प्रचार-प्रसार एक शुभ संकेत है, पर वर्तमान समय में समाज का एक वर्ग अपनी पृथक पहचान के राजनीतिक एजेंडे के तहत कबीर को दलित धर्म के भगवान के रूप में व्याख्यायित कर रहा है । तृतीय अध्याय "कबीर और समकालीन अस्मिता विमर्श" में मुख्य रूप से धर्मवीर के चिंतन को केन्द्र में रखा गया है, साथ-ही साथ कबीर के मूल्यांकन में नामवर सिंह की संकीर्ण आलोचना दृष्टि पर भी विचार किया गया है । "ब्राह्मणी कानून की वजह से खुए हुए अपने रिश्ते की खोज" में धर्मवीर कहाँ तक सफल हो सके हैं, या फिर नामवर सिंह कबीर के दुःख को जुलाहे के दुःख में परिभाषित कर क्या सिद्ध करना चाहते हैं ? कबीर की कविता का मर्म सिर्फ दलित ही समझ सकता है या जिसे जुलाहे के दुःख की प्रतीति हो वही समझ सकता है ?

आज से छः सदी पूर्व के समाज में एक ऐसे व्यक्ति की उपस्थिति जो अपने शब्दों के माध्यम से समाज की सम्पूर्ण चेतना को झकझोर रहा हो, आज सर्वाधिक प्रासंगिक क्यों है ? चतुर्थ और अंतिम अध्याय "कबीर की कविता और उनकी अस्मिता" में मैंने कबीर के मूलस्वरूप की खोज करनी चाही है । कबीर नेता थे, कबीर रहस्यवादी थे, कबीर सन्त थे, कबीर सर्वधर्म समन्वयकारी थे, कबीर हिंदू-मुस्लिम एक्य विधायक थे, कबीर धर्म-सुधारक थे, कबीर दलितों के भगवान थे आदि-आदि कबीर को लेकर छिड़ी बहसों में उनका कवित्व प्रायः अलक्षित ही रह गया है, जो कबीर को बौद्धिक चर्चा में शामिल करने का मुख्य आधार है । परम्परा से विद्रोह और नई व स्वच्छ परम्परा के निर्मिति का उद्घोषक अपनी कविता में मनुष्यता के मूल भावों को व्यक्त करता है । कबीर अकेले ऐसे कवि हैं जिन्होंने विश्व समुदाय को अपनी ओर आकर्षित किया, क्योंकि उनकी कविता में हर मनुष्य अपनी अस्मिता को सुरक्षित पाता है । सार्थक रचना की गहरी सामाजिक-सांस्कृतिक पीड़ा होती है, जो युगों तक समाज की सिसकियों को सांत्वना देने का काम करती है । कबीर समाज की स्वाभाविक चिंता के पुरूष थे, इसलिए विश्व कवि होने की हैसियत भी रखते हैं ।

शोध कार्य जैसे अकादमिक कर्तव्य को बगैर किसी नाकामयाबी के पूर्ण करने का पहला श्रेय मैं अपने शोध निर्देशक श्री पुरूषोत्तम अग्रवाल को देना चाहूंगा । उनके सानिध्य ने स्वतंत्र वैचारिक आधार प्रदान किया और उसी का परिणाम है कि मैं साहित्य के एक विलक्षण व्यक्तित्व के कृतित्व पर विचार करने में सक्षम हो सका । अपने गुरू के विचारों की गहराई में मैं जितना ही डूबता गया, मेरी संकीर्ण मानसिकता के पर्दे हटते चले गये और कबीर को उसके मूल रूप में देखने की समझ विकसित हुई, जिसकी परिकल्पना वर्षों से मेरे जहन को मथती चली आई थी । श्री अग्रवाल जी के साहचर्य ने दृष्टि की पारदर्शिता और प्रगतिशील मूल्यों

के निर्माण में हरसंभव सहायता प्रदान की और मैं मानसिक शुचिता के साथ साहित्य की परख के प्रति आग्रहशील हो सका । सहानुभूतिमूलक क्रोध भाव से उत्पन्न उनके शब्द जीवन के सुखद क्षण बनकर मेरे मनसपटल पर अंकित होते रहे हैं । उनके संकेतों का लक्ष्यार्थ इस शोध कार्य की संपन्नता में बहुत ही उपयोगी और सारग्राही रहा । वे कबीर साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान हैं और मैं कबीर साहित्य का अदना-सा पाठक । प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध में संभव है, उनके वैचारिक दृष्टिकोण से मेरी दृष्टि कई अर्थों में भिन्न हो । मत-भिन्नता की स्थिति स्वकर्म से उदबुद्ध है, और मैंने हर संभव यह प्रयास किया है कि कबीर के कृतित्व का पूर्वाग्रह रहित विश्लेषण और मूल्यांकन हो सके ।

भारतीय भाषा केन्द्र, जे. एन. यू. का विशेष रूप से आभारी हूँ जहाँ से इस अध्ययन की शुरूआत हुई । प्रोफेसर केदारनाथ सिंह, प्रोफेसर मैनेजर पाण्डेय, और प्रोफेसर गंगा प्रसाद विमल के सक्रिय सहयोग और शाबासी ने इस अध्ययन को और आसान बनाया । प्रोफेसर रामबुझावन सिंह और डॉ. सुरेन्द्र 'स्निग्ध'जी के प्रति मैं असीम श्रद्धा प्रकट करता हूँ जो अध्ययन कर्म में मुझे कई स्तरों पर आंदोलित और आह्लादित करते रहे हैं। खासकर प्रोफेसर रामबुझावन सिंह का आश्वासन ही काफी था आत्म-विश्वास बढ़ाने के लिए । उनके "सेंचुरी मारने का ख्वाब" का मैं प्रबल समर्थक हूँ और ऊपर वाले से यह फरियाद करता हूँ कि उस बूढ़े जिस्म में सतकीय पारी खेलने की जो ऊर्जा अब भी कायम है, उसे किसी भी कीमत पर खत्म न होने दे । मैं आजीवन उनके सानिध्य का आकांक्षी हूँ । कैम्पस लाइब्रेरी और साहित्य अकादमी पुस्तकालय मेरे लिए खास मददगार साबित हुआ ।

अपने अब्बा 'मकबूल अहमद' और अम्मी 'रेहाना' खातुन के प्रति आभार प्रकट करने के लिए शब्दों की जरूरत नहीं है, उनकी जगह तो दिल में है । भाई 'इकबाल,' 'जमाल,' 'नेहाल,' 'शकील' और बहन 'बेबी,' 'मुन्नी'

अध्ययन क्रम के दौरान संघर्ष के साथी रहे हैं, और इन लोगों के सहयोग के बगैर मेरी अस्मिता का निर्माण संभव भी नहीं । भाभीजान 'शबाना' के सहयोग का आजीवन आकांक्षी हूँ, जिन्होंने "मिल्टन" जैसे फरिश्ते को जन्म दिया । प्यारी और खूबसूरत भानजी "रिमझिम" पूरे शोध कार्य के दौरान स्मरण में छायी रही । "शमा" को याद कर मैं अपनी थकावट भूलता रहा । फासलों के बावजूद मेरे वजूद में शामिल उसकी उपस्थिति ऊर्जस्वित करती रही । अलीगढ़ में अध्ययन करती हुई, एक छात्रा "समाजशास्त्र" की और दिल्ली में अध्ययन करता हुआ, एक छात्र "साहित्य" का । अब 'साहित्य का समाजशास्त्र' किन रूपों में विकसित होगा यह भविष्य पर निर्भर है ।

अपने अजीज भाई कम दोस्त 'नेहाल' का आजीवन एहसानमन्द रहूँगा, जो बचपन से लेकर आज तक अध्ययन क्रम में सहयोग देते रहे हैं । उनकी आलोचनाओं को सुझाव रूप में ग्रहण कर हमेशा लाभान्वित होना चाहूँगा । 'बेबी' की बदोलत आज मैं "पाटलिपुत्र" से उखड़ कर "इन्द्रप्रस्थ" में जम सका, उस एहसान का कर्ज मैं चुका नहीं सकता । दीपक, अनुपम, प्रकाश, मनोज, ललन, नीरज, श्रीष, सूर्यमोहन, सूर्यकान्त के मार्ग-दर्शन और सुझाव का आभारी हूँ । 'शकील आबीद शम्स' के सहयोग को भूलना मुमकिन नहीं, भ्रातृत्व भाव के साथ अपने हक को अदा करता हुआ, मेरे कार्य की प्रगति में सहायक बना । अध्ययन-क्रम और शोध-कार्य के दौरान जिन-जिन लोगों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मेरी सहायता की है, उस सहयोग का अनुपाती है, उत्पादित परिणाम ।

कमाल अहमद

अध्याय - 1

कबीर : मूल्यांकन के प्रश्न

भारतीय इतिहास के मध्यकाल में कबीर जैसे विलक्षण व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव वैश्विक समाज के लिए एक अभूतपूर्व व अविस्मरणीय घटना है । कबीर की शख्सियत को किसी विशेषण-विशेष से अलंकृत करना बिल्कुल अप्रासंगिक होगा, साथ ही उनकी महत्ता को कमतर आँकने की एक सफल चेष्टा भी । विगत छः सौ वर्षों के इतिहास में वे जन-विकास की एक लम्बी परम्परा के साथ किसी न किसी रूप में चलते चले आ रहे हैं, चलते चले जाने के लिए । उनके शब्दों की क्रांतिधर्मिता, विचारों का प्रकाश-पुँज स्वयमेव मानव-मस्तिष्क को अपनी ओर आकृष्ट करता रहा है । आज मनुष्य अपने गंतव्य तक पहुँचने की मंशा में स्वयं के बनाए मार्गों के अनवरत खोज में भटकता चला जा रहा है, पर कबीर अपने प्रेम मार्ग पर क्रमशः बढ़ते ही चले जा रहे हैं । कबीर एक परिकल्पना नहीं, यथार्थ हैं जो समय और समाज के साथ कहीं भी और कभी भी इंसानी जज्बातों से रूबरू होने की हैसियत रखता है ।

मध्यकाल के सर्वश्रेष्ठ जनकवि कबीर अपने आविर्भाव-काल से लेकर वर्तमान काल के उपस्थित क्षणों तक समाज में स्वीकार या अस्वीकार के अमूर्त रूप में हमेशा उपस्थित रहे हैं । जहाँ तक उनके मूल्यांकन का प्रश्न है, अनेकशः मनीषियों, विद्वानों, चिन्तकों, विचारकों, इतिहासकारों आदि ने अपने-अपने तर्क से उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की व्याख्या प्रस्तुत की है । वे अपने उद्देश्य (मूल कबीर की खोज) में कितने सफल हो सके हैं, यह गहन अध्ययन और सूक्ष्म विश्लेषण व मूल्यांकन की मांग करता है । यूँ तो एकेडमिक विमर्श में कबीर को उन्नीसवीं शती का उत्पादन माना जाता है, और यह सत्य भी है, फिर भी मेरी कोशिश यह है कि उन्नीसवीं शती के पूर्व कबीर के संदर्भ में मिलने वाले उन संकेत-सूत्रों को भी परखा जाए, जिनसे उनकी प्रासंगिकता को बल मिलता हो । कबीर के व्यक्तित्व-मूल्यांकन की विभिन्न दृष्टियों के बीच अपनी दृष्टि निर्धारित करना मेरा अभीष्ट नहीं

है, फिर भी अन्य अध्यायों में उन पर विचार किया जाएगा । फिलहाल उनके कृतित्व के मूल्यांकन में प्रचलित वैचारिक आधारों की खोज शुरू होती है।....

बीसवीं शती के पूर्व कुछ कबीर-पंथी साहित्य (निर्भय ज्ञान, कबीर चरित्र-बोध आदि) कुछ इतिहास-ग्रंथों (आइने अकबरी आदि) कुछ साम्प्रदायिक ग्रंथ (ज्ञान दीपक आदि) कुछ अन्य रचनाएँ (भक्तिकाल, दादू-ग्रंथावली, कबीर साहब की परिचयी आदि) ऐसी हैं, जिनमें कबीर के जीवन और व्यक्तित्व की चर्चा की गई है । इन पुस्तकों में या तो कबीर के व्यक्तित्व की दिव्यता को उद्घाटित किया गया है, या फिर उनके भक्त रूप का प्रदर्शन मात्र ।

उन्नीसवीं शती से कबीर के पदों की वैज्ञानिक खोज शुरू होती है, साथ ही साथ उनकी विचारधारा को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाने लगता है । कबीर के कुछ पद "आदिग्रंथ" में संकलित हैं । "बीजक" में संग्रहीत रचनाएँ कबीरपन्थ में अधिक मान्य हैं । कबीर की कही जाने वाली रचनाओं में "कबीर ग्रंथावली" जिसका सम्पादन श्याम सुन्दर दास ने किया था, सबसे अधिक प्रामाणिक मानी जाती है । इनके अलावा "कबीर-वचनावली", "कबीर-शब्दावली" कतिपय ऐसे ग्रंथ हैं, जिनमें उनकी रचनाओं का संकलन किया गया है । उन्नीसवीं शती से अब तक कबीर पर स्वतन्त्र रूप से या प्रसंगवश ऐसी बहुत सी पुस्तकें हिन्दी और अंग्रेजी में लिखी गई हैं, जिनमें कबीर के शब्दों को समझने का प्रयास किया गया है, साथ ही उनकी विचारधारा को स्पष्ट करते हुए उनका मूल्यांकन भी किया गया है । अपनी सुविधा के अनुसार इसे दो भागों में बाँटा जा सकता है -

1. अंग्रेज और अंग्रेजी विद्वानों की पुस्तकें
2. हिन्दी में उपलब्ध पुस्तकें

उन्नीसवीं शती के प्रथम दशक से अंग्रेज विद्वानों ने "हिन्दू धर्म" और "सिक्ख-पंथ" के अध्ययन के क्रम में कबीर पर विचार करना शुरू किया । ये अध्येता एक तरफ "पूर्वी साम्राज्य के निवासियों के धार्मिक विश्वासों को समझना चाहते थे, दूसरी ओर भारतीय जनता में ईसाइयत को अधिक ग्राह्य बनाने के लिए भारतीय परंपरा में ईसाइयत से मिलते-जुलते तत्वों का अनुसंधान करना चाहते थे ।[1]

'गियर्सन' ने अपनी औपनिवेशिक मनोवृत्ति के कारण कबीर को सुधारक की पदवी से विभूषित करते हुए मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन पर ईसाई प्रभाव को रेखांकित किया । 'विलियम्स' ने कबीर को हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतिष्ठायक के रूप में देखा । 'फ्रेडरिक पिनकॉट' ने कहा कि "कबीर हिन्दुओं और मुसलमानों को संबोधित करते हुए एक सामान्य मार्ग की प्रतिस्थापना करते हैं, ताकि ईश्वर के प्रति एक सामान्य आधार-भूमि निर्मित की जा सके । उन्होंने यह दिखलाने की चेष्टा तो की कि कबीर "पूरे मुसलमानी जोश" के साथ मूर्तिपूजा का खंडन करते हैं, पर यह नहीं बतला पाए कि कबीर के कतिपय विचार ऐसे हैं जिनमें जातिभेद विरोध का स्वर है ।"[1*]

'एम. ए. मैकालिफ' ने निर्गुण भक्तों के जाति-भेद विरोध को काफी महत्व दिया । उन्होंने भक्ति आन्दोलन के चरित्र का यूरोप के धर्म सुधार आन्दोलन से साम्य प्रदर्शित किया । वे कबीर के विचारों को रहस्यपरक मानते हैं ।

कबीर पर पहला आलोचना ग्रंथ 'जी. एच. वेस्टकॉट' का है "कबीर एंड कबीर पंथ" जो 1907 में प्रकाशित हुआ था । वे कबीर के आविर्भाव की ऐतिहासिक प्रक्रिया को स्पष्ट करने के साथ उनके पदों का विश्लेषण

1* साभार, कबीर की भक्ति का सामाजिक अर्थ - पुरूषोत्तम अग्रवाल

करते हैं । बौद्ध-धर्म के पर्यवसान के पश्चात ब्राह्मण धर्म का उदय और इस्लाम के आगमन से उत्पन्न सांस्कृतिक संकट को उन्होंने कबीर के माध्यम से पकड़ने की चेष्टा की है । उनके अनुसार कबीर का मुख्य उद्देश्य उन व्यवधानों को साफ करना था, जो दो संस्कृतियों के आपस में मेल-जोल होने से रोकती थी । वे कहते हैं - "साधारणं यह बात मान ली गई है कि समस्त बड़े-बड़े हिन्दू संस्कारों में कबीर और तुलसीदास का प्रभाव उत्तरी और मध्य भारत की अशिक्षित जातियों में स्थायी रूप से अधिक है ।"[2] "फिर भी इस बात का विश्वास करने के लिए दलीलें हैं कि कबीर की शिक्षाएँ धीरे-धीरे हिन्दू आकार में ढल गई हैं ।"[3] "कबीर ने शेख से प्रार्थना की कि वह उनको यह वर दें कि वह हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच के उन धार्मिक विरोधों को दूर कर सकें, जो उनको परस्पर अलग करते हैं ।"[4] "कबीर की शिक्षा में हमको हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की सीमा तोड़ने का यत्न दृष्टिगत होता है ।"[5]

'एफ ई. के.' ने "ए हिस्ट्री आफ हिन्दी लिटरेचर" में कबीर पर विचार करने के साथ ही भक्ति आन्दोलन के उदय और विकास की भी व्याख्या की है । वे "मुस्लिम आक्रान्ताओं से त्रस्त हिन्दू जाति" की स्थिति को भक्ति के प्रचार और प्रसार में सहायक मानते हैं । 'विल्सन' साहब ने कबीर के अस्तित्व पर ही संदेह प्रकट किया है और उन्हें काल्पनिक पुरुष तक सिद्ध करने का प्रयास किया है ।[6] 1915 ई. में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कबीर के सौ पदों का अनुवाद "वन हंड्रेड पोयम्स आफ कबीर" के नाम से प्रकाशित करवाया । 'एवलिन अंडरहिल' ने उसके प्राक्कथन में कई स्थानों पर कबीर को रहस्यवादी घोषित किया है - "कवि कबीर जिनके गीतों का संकलन पहली बार अंग्रेजी पाठकों को भेंट किया जा रहा है, भारतीय रहस्यवाद के इतिहास के अत्यन्त मनोरंजक व्यक्तियों में से एक हैं ।"[7] "एक महान धर्मसुधारक और एक ऐसे

सम्प्रदाय के संस्थापक जिनके संबंध उत्तरी भारत के करोड़ों हिन्दुओं से हैं, सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी कवि के रूप में कबीर विद्यमान हैं ।"[8]

मोहम्मद हिदायतुल्ला ने अपनी पुस्तक "कबीर द एपस्टल ऑफ हिन्दू मुस्लिम युनीटी" में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मध्य-कालीन भारत में भक्ति आन्दोलन का उदय दो सम्प्रदायों में परस्पर सामंजस्य का अनूठा उदाहरण है । उनके अनुसार कबीर के जीवन एवं विचार किसी एक विशेष धार्मिक सम्प्रदाय के संकीर्ण-व्यवस्था से बंधने का नकार और प्रकृति के उन सतही अभिव्यक्तियों से बाहर जाकर उसे महसूस करने की चेष्टा है, जो कि धर्मों द्वारा झूठी तरह से व्याख्यायित है । हिन्दू और मुसलमान समुदाय के परस्पर सामंजस्य और संश्लेष के सबसे बड़े प्रतीक कबीर और भक्ति आन्दोलन है ... जिन्हें 'हिन्दू मुस्लिम विवाह का शिशु' माना जाता है । इस पुस्तक की भूमिका में 'सी. जे. एडम्स' कबीर को अनिवार्यतः एक रहस्यवादी मानते हुए लिखते हैं कि "कबीर हिन्दू मुस्लिम एकता के उग्र आह्वाहनकर्ता के रूप में देखे जाते हैं - एक ऐसी एकता के नियामक, जो दोनों धर्मों के अच्छे तत्वों को मिलाकर एक श्रेष्ठ धार्मिक सच्चाई की स्थापना करता है ।"[9]

वस्तुतः अंग्रेजी लेखकों ने कबीर और भक्ति आन्दोलन की ऐतिहासिकता को स्पष्ट करने के लिए धर्म की उपादेयता प्रदर्शित की है । ये विद्वान तत्कालीन भारतीय समाज की व्याख्या दो संस्कृतियों के टकराव के परिणाम के रूप में करते हैं । आक्रामक मुस्लिम जाति के अत्याचारों से पीड़ित हिन्दू समाज विक्षुब्ध था, जिसके परिणामस्वरूप वैष्णव भक्ति का उन्मूलन हुआ । इस भक्ति आन्दोलन पर यूरोप के धर्म सुधार-आन्दोलन का भी प्रभाव था । कबीर संघर्षरत जातियों के बीच एकता के उपदेशक थे । भक्ति आन्दोलन ईसाई संपर्क एवं प्रभाव का प्रतिफल था । इसलिए तो 'सर विलियम हंटर' जैसे विद्वानों ने भी

कबीर को "पंद्रहवीं शती का भारतीय लूथर" कहा है । हरिश्चन्द्र वर्मा ने ठीक ही लिखा है कि "चूँकि मध्यकालीन यूरोपीय राज्य ईसाइयत से बहुत अधिक प्रभावित थे, अतः स्पष्ट है कि अंग्रेज लेखकों और प्रशासकों ने अपने स्वयं के राज्य के ढाँचे के अनुरूप ही मध्यकालीन भारतीय समाज को देखा और तदनुरूप ही उसका मूल्यांकन किया ।"[10]

हिन्दी में कबीर से सम्बन्धित अनेकों पुस्तकें हैं । कुछ उनके पदों का संकलन है, कुछ स्वतन्त्र आलोचना हैं, कुछ इतिहास ग्रन्थ हैं, कुछ लेख हैं, आदि आदि ।

मिश्र-बन्धुओं द्वारा लिखित "हिन्दी नवरत्न" में कबीर को कवियों में सातवाँ स्थान मिला है । इसमें उनके जीवन और साधना-पक्ष पर विचार किया गया है । मिश्र-बन्धुओं के अनुसार कबीर ने ईश्वर की एकता पर बल दिया है । कबीर की रचनाओं में आध्यात्मिक अनुभूति की व्यापकता ही मिश्र-बन्धुओं का इष्ट है ।

यूँ तो इतिहासकार व आलोचक रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर जैसे विद्रोही व्यक्तित्व को स्वतंत्र आलोचना-कर्म के लायक नहीं समझा, फिर भी उन्होंने अपने इतिहास-ग्रंथ, या फिर अन्य मध्यकालीन कवियों के संदर्भ में उन पर खासी टिप्पणियाँ की हैं । अगर उन सामग्रियों को उपयोग में लाया जाए तो कबीर के मूल्यांकन में उनकी दृष्टि का खुलासा किया जा सकता है । भक्ति के उदय में मुस्लिम आक्रांताओं की भूमिका को रेखांकित करते हुए वे कहते हैं - "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया । उसके सामने ही उसके देवमंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरूषों का अपमान होता था, और वे कुछ नहीं कर सकते थे । अपने पौरूष से हताश जाति के लिए

भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?"[11] उस समय शुक्ल जी के अनुसार - "भक्त के दो ही वर्ग थे, एक तो भक्ति के प्राचीन स्वरूप को लेकर चला था, अर्थात प्राचीन भागवत सम्प्रदाय के नवीन विकास का ही अनुयायी था और दूसरा विदेशी परम्परा का अनुयायी, लोकधर्म से उदासीन तथा समाज व्यवस्था और ज्ञान विज्ञान का विरोधी था । ... मुसलमानों के बीच रहकर इस वर्ग के (दूसरा वर्ग) महात्माओं का भगवान के उस रूप पर जनता की भक्ति को ले जाने का उत्साह न हुआ, जो अत्याचारियों का दमन करने वाला और दुष्टों का विनाश कर धर्म को स्थापित करने वाला है ।"[12] इस दूसरे वर्ग में व्यवस्था विरोधी कबीर आते हैं, "जिन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद ... के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया ।"[13] पर, "इस पंथ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा, क्योंकि उसके लिए न तो इस पंथ में कोई नई बात थी, न नया आकर्षण । संस्कृत बुद्धि, संस्कृत-हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता है, जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता । पर अशिक्षित और निम्नश्रेणी की जनता पर इन सन्त महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है । उच्च विषयों का कुछ आभास देकर आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडम्बरों का तिरस्कार करके, आत्म गौरव का भाव उत्पन्न करके, इन्होंने इसे ऊपर उठाने का प्रयास किया ।"[14] "कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था ।.. इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्म गौरव का भाव जगाया ।"[15]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्य के मूल्यांकन में "लोकधर्म" को प्रतिष्ठित करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने कबीर की उपेक्षा की और "कट्टर मर्यादावादी" और "कार्यक्षेत्रों के प्राचीन विभाग के पूरे समर्थक" तुलसीदास की महत्ता प्रदर्शित करते हुए लिखा कि - "भक्ति का यह विकृत रूप §वेद शास्त्रों की निन्दा करना, पंडितों को गालियाँ देना और आर्य धर्म के सामाजिक तत्वों को न समझकर लोगों में वर्णाश्रम के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करना§ जिस समय उत्तर भारत में अपना स्थान जमा रहा था, उसी समय भक्तवर गोस्वामी जी का अवतार हुआ, जिन्होंने वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुलाचार, वेदविदित कर्म, शास्त्र प्रतिपादित ज्ञान इत्यादि सबके साथ भक्ति का पुनः सामंजस्य स्थापित करके आर्यधर्म को छिन्न-भिन्न होने से बचाया ।"[16]

इस प्रकार शुक्ल जी ने कबीर को लोक विरोधी मानकर समाज और साहित्य से बहिष्कृत करने का जो षड्यंत्र रचा, वह आज तक किसी न किसी रूप में कहीं न कहीं फलीभूत है । वे कबीर के पदों को स्वतः स्फूर्त न मानकर सिर्फ अनुकरण मात्र मानते हैं । वैलहाउसेन ने अपने ग्रंथ "अरब साम्राज्य का उदय और अस्त" में उदाहरण के लिए बहुत पहले ही "एक हाथ में शमशीर और दूसरे में कुरान थामने वाली और "जो भी हाथ आ गया उसका धर्म परिवर्तन कर डाला" ऐसी बहुप्रचारित मिथ का भंजन कर दिया था ।"[17] वस्तुतः जब दो संस्कृतियाँ किसी काल विशेष में आमने सामने उपस्थित होती है, तब प्रतिक्रियास्वरूप द्वन्द्व और संघर्ष होना स्वाभाविक है । फिर लम्बे समय तक के साहचर्य में आक्रोश धीरे-धीरे कम होता है और पारस्परिक सम्मिलन की स्थिति उत्पन्न होती है । परिप्रेक्ष्य को गलत रूप में प्रस्तुत करने पर संभव है अनेकशः धारणाएँ निर्मित हों, और मनुष्य माकूल जवाब के इन्तजार में प्रश्नों के व्यूहजालों में लिपटता चला जाए । कुछ विद्वानों ने वल्लभाचार्य द्वारा "कृष्णाश्रय" में उद्धृत पंक्तियों "देश मलेच्छाक्रांत है, गंगादि तीर्थ भ्रष्ट हो रहे हैं .... " के आधार पर भक्ति आन्दोलन की रूपरेखा

निश्चित की है, तो कुछ इतिहासकारों ने 'अमीर खुसरो' और 'अबुलफजल' को छोड़कर, मुस्लिम राज्य के स्वरूप की व्याख्या के लिए 'बरनी' और 'बदायूँनी' को चुना, ताकि उनकी पुस्तकों से धर्म के नाम पर शासकों द्वारा किए गए अपकर्म और अपने अभ्युदय के औचित्य को प्रामाणित करने का उत्तम स्तंभ मिल जाए ।

साहित्यिक इतिहास की एक विलक्षण घटना ही है कि कबीर के कृतित्व और व्यक्तित्व को समझने के लिए हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे समालोचक एक सुदृढ़ पक्षधर के रूप में सामने आते हैं । जिन्होंने अपनी प्रगतिशील दृष्टि से मूल्यांकन कर कबीर की रचनाओं को साहित्यिक विमर्श के केन्द्र में लाया । वरना यह हिन्दी साहित्य की दूसरी विलक्षण घटना होती कि कबीर को साहित्य में लिया ही नहीं जाता और उन्हें हिन्दी-उर्दू बँटवारे की सीमारेखा पर "अमीर खुसरो" की तरह उपेक्षित और विवादास्पद मान लिया जाता - "उन्होंने कबीर के व्यक्तित्व और उनकी कविता की विशेषताओं को समाज के वर्गीय ढाँचे और भक्ति आंदोलन की सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में व्याख्यायित किया ।"[18] उन्होंने कबीर के क्रांतिकारी व्यक्तित्व को सामने रखकर पूर्व के मूल्यांकन की व्यर्थता सिद्ध करते हुए लिखा कि - "जो लोग कबीरदास को हिन्दू-मुस्लिम धर्मों का सर्वधर्म-समन्वयकारी सुधारक मानते हैं, वे क्या चाहते हैं, ठीक समझ में नहीं आता । कबीर का रास्ता बहुत साफ था । वे दोनों को शिरसा स्वीकार कर समन्वय करने वाले नहीं थे । समस्त बाह्याचारों के जंजालों और संस्कारों को विध्वंस करने वाले क्रान्तिकारी थे । समझौता उनका रास्ता नहीं था - ।"[19]

उनका मानना था कि भक्ति का उदय "भारतीय चिन्ताधारा का स्वाभाविक विकास" है और इस्लाम के आगमन को एक प्रभाव रूप में ही देखना चाहिए । मध्यकाल में बौद्ध धर्म के विप्लव के साथ वैष्णव धर्म

का वर्चस्व समाज पर कायम होने लगा था । इसी समय इस्लाम का आगमन होता है जो तत्कालीन भारतीय वर्णव्यवस्था वाले समाज में एक विस्फोट की भाँति उभरता है - "मुसलमान धर्म एक "मजहब" है । भारतीय समाज संगठन के बिल्कुल उलटे तौर पर उसका संगठन हुआ था । भारतीय समाज जातिगत विशेषता रखकर व्यक्तिगत धर्म साधना का पक्षपाती था, इस्लाम जातिगत विशेषता को लोप करके समूहगत धर्मसाधना का पक्षपाती था ।"[20] "कबीर के समय "वस्त्रजीवी नाथ मतावलम्बी गृहस्थ योगियों" की काफी संख्या समाज में थी, जो आसपास के बृहत्तर हिन्दू समाज में नीच और अस्पृश्य समझे जाते थे - मुसलमानों के आने के बाद धीरे-धीरे मुसलमान होते रहे । कबीर इन्हीं "नवधर्मान्तरित" लोगों में पालित हुए थे । "कबीर उस समाज में पालित हुए थे जो न तो हिन्दुओं द्वारा समादृत था, न मुसलमानों द्वारा पूर्णरूप से स्वीकृत । ... नाममात्र की मुसलमान इस जुलाहा जाति रूप में प्राचीन योगमार्गीय विश्वास पूरी मात्रा में वर्तमान था ।"[21]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के आध्यात्मिक पक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए उन्हें मूलतः एक भक्त और धर्मगुरू स्वीकार किया है और कहा है कि उनकी वाणियों का आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिए । उनका मानना था कि "कबीरदास की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी ।[22] "भक्ति तत्व की व्याख्या करते करते उन्हें वाह्याचार के जंजालों को साफ करने की जरूरत महसूस हुई है जो अपनी जड़ प्रकृति के कारण विशुद्ध चेतन तत्व की उपलब्धि में बाधक है । यह बात ही समाज-सुधार और साम्प्रदायिक ऐक्य की विधात्री बन गई है । पर यहाँ भी यह कह रखना ठीक है कि वह फोकट का माल या बाईप्रोडक्ट ही है ।"[23] "काव्यत्व उनके पदों में फोकट का माल है ।"[24] कबीरदास के पदों में जो महान प्रकाशपुंज है वह बौद्धिक आलोचना का विषय नहीं है ।"[25] "वस्तुतः वे

व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे । समष्टि वृत्ति उनके चित्त का स्वाभाविक धर्म नहीं था ।"[26]

द्विवेदी जी कबीर के क्रांतिकारी व्यक्तित्व को सामने लाए पर उन्होंने कबीर के कृतित्व के साथ सही न्याय नहीं किया । वे कबीर की वाणी को म्यूजियम के प्रदर्शन की वस्तु भले ही मानें, पर कबीर की भक्ति का अपना सामाजिक अर्थ है । कबीर की रचनाएँ आज समाज में जीवंत बहस का प्रमुख मुददा बन चुकी हैं, ऐसे में उनके भक्त रूप को मानना श्रेष्यकर नहीं "भक्ति काव्य की अपनी प्रतिबद्धताएँ हैं और इस कविता का सांस्कृतिक प्रयोजन है - देवचरित तो एक आधार है, जिसके माध्यम से कवि को अपना आशय व्यक्त करना है ।"[27] "कबीर का सामाजिक यथार्थ और उनकी आध्यात्मिक चेतना एक ही व्यक्तित्व की दो आवाजें हैं जो एक ही लक्ष्य की ओर जाना चाहती हैं - उच्चतर मानव मूल्यों की ईमानदार चिन्ता ।"[28]

डा. श्याम सुन्दर दास ने "कबीर ग्रंथावली" की भूमिका में अपने कतिपय विचार रखें हैं । ये भक्ति के उदय की व्याख्या में आचार्य शुक्ल के ऋणी कहे जा सकते हैं । इन्होंने कबीर को रहस्यवादी स्वीकार करते हुए लिखा है कि - "रहस्यवादी कवियों में भी कबीर का आसन सबसे ऊँचा है, शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है ।"[29] कबीर की आधी से अधिक रचनाओं को वे केवल दार्शनिक पद्य मात्र मानकर उनकी कविता में साहित्यिकता का अभाव पाते हैं । वे कबीर को परोक्षतः धर्मसुधारक ही मानते हैं । "धार्मिक सुधार और समाज सुधार का घनिष्ट संबंध है । धर्म सुधारक को समाज सुधारक होना पड़ता है । कबीर ने भी धर्म सुधार के लिए अपनी वाणी का उपयोग किया है ।"[30]

डा. राम कुमार वर्मा ने अपने ग्रंथ "कबीर का रहस्यवाद" में लिखा - "कबीर का रहस्यवाद हिन्दुओं के अद्वैतवाद और मुसलमानों के

सूफी मत पर आश्रित है । ... उन्होंने अद्वैतवाद से माया और चिन्तन तथा सूफी मत से प्रेम लेकर अपने रहस्यवाद की पुष्टि की है ।"[31] इस पुस्तक में उन्होंने हठयोग और सूफीमत की गुत्थियों को ही सुलझाने का अधिक प्रयास किया है । यद्यपि कबीर के उपदेश धार्मिक सुधार तक ही सीमित हैं तथापि भारतीय नवयुग के समाज सुधारकों में कबीर का स्थान सर्वप्रथम है, क्योंकि भारतीय धर्म के अंतर्गत दर्शन, नैतिक आचरण एवं कर्मकांड तीनों का समावेश है ।"[32] गोविन्द त्रिगुणायत कबीर के काव्य के वर्ण्य विषय को सिर्फ आध्यात्मिक विचार मानते हैं, लौकिक भाव नहीं । उन्होंने लिखा है कि "कबीर में भावात्मक, साधनात्मक एवं अभिव्यक्ति मूलक तीनों प्रकार के रहस्यवाद के अनेकानेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं ।"[33]

कबीर को सूफी या सूफी प्रभावापन्न बताने वाले विद्वानों में अली सरदार जाफरी हैं । अपनी पुस्तक "कबीर बानी" की भूमिका में कबीर की कविता पर मध्यकालीन दार्शनिकों और ईरानी सूफी शायरों की विचारधारा का प्रभाव बतलाते हुए कहते हैं कि "कबीरदास एक मुसलमान सूफी थे जो हिन्दू भक्ति की भाषा में बात कर रहे थे ।"[34] वे कबीर के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि तसव्वुफ और भक्ति ने सामंती व्यवस्था के वैचारिक आधार को हिला दिया था ।

प्रकाश सत्येन नटराजन ने भी कबीर के काव्य के मुख्य तत्वों की विवेचना करते हुए माना है कि भारतीय मध्ययुगीन संत साहित्य साहित्यिकता या साहित्यिक कला से प्रतिबद्ध नहीं था और न ही उसका ध्यान विशेषकर सामाजिक क्रांति या सुधार की तरफ था, अपितु आध्यात्मिक रहस्यवाद में केन्द्रित था, जिसका उद्देश्य व्यक्तिगत मोक्ष था ।[35]

आधुनिक प्रगतिशील आलोचकों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कबीर की भक्ति वस्तुतः आर्थिक, सामाजिक न्याय की माँग थी ।

वे मूलतः सामंती व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह करने वाले जनवादी, क्रांतिकारी जन कवि थे । शिवदान सिंह चौहान का मानना है कि "कबीर जनता के कवि" थे और "कबीर ने अपनी वाणी द्वारा अपने युग की आधार प्रवृत्ता और सामाजिक अन्याय और हिन्दू-मुसलमानों के वैमनस्य पर लगातार आक्रमण करते हुए जिन मानवीय आदर्शों की स्थापना की, वे निश्चय ही युगानुरूप थे ।[36] विश्वनाथ त्रिपाठी का आकलन है कि कबीर का मुख्य स्वर विद्रोह का है । "कबीर भक्त कवि, भक्त साधक समाज सुधारक कवि और लोक नेता सभी कुछ एक साथ थे ।[37]

साहित्य में कबीर की कवि रूप में प्रतिष्ठा आधुनिक प्रगतिशील आलोचकों की देन है । नामवर सिंह का मानना है कि "कबीर का दुःख" एक जुलाहे का दुःख है । "कबीर का सारा काव्य नकार का काव्य है ।"[38] मैनेजर पाण्डेय कबीर को मनुष्य की स्वतंत्रता के कवि के रूप में देखते हैं । कबीर चाहते थे कि मनुष्य अपनी आस्था, विश्वास और क्षमता के अनुसार अपना जीवन जिए या भक्ति करे । उनके काव्य में उस समय की जटिल स्थिति का बोध है और उसके बीच से अपनी स्वतन्त्र दृष्टि और नई राह बनाने का साहस, संकल्प और विवेक भी है । कबीर केवल अपने युग की चिन्ता के कवि नहीं हैं, वे भारत के अतीत के तेजस्वी ज्ञानधारा और भविष्य की संभावनाओं के कवि हैं ।[39]

पुरूषोत्तम अग्रवाल ने कबीर की भक्ति के सामाजिक अर्थ की खोज के अनन्तर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि भक्ति आन्दोलन सामंती जकड़न और संगठित धर्म में अन्तर्निहित दमन के विरूद्ध विकासमान जातीय अस्मिता का आन्दोलन था । और कबीर की भक्ति का सम्बन्ध हिन्दू या मुसलमान जाति से नहीं हिन्दी जाति के दस्तकार वर्ग की संवेदनाओं से है।[41] वे कवि कबीर की खोज करते हुए यह घोषणा करते हैं कि "कबीर की कविता बेचैन आत्मा की कविता है । काव्य के सन्दर्भ में उनकी टिप्पणी है कि

"कबीर आरम्भ करते हैं - अपनी सामाजिक अस्मिता के उत्पीड़न के गहरे बोध के साथ और सपना देखते हैं ऐसे अमरलोक का जिसमें मनुष्य का मोल उसकी जात के कारण नहीं उसकी साधना के कारण होगा । ऐसा समाज जिसके आधारभूत नैतिक प्रतिमान सार्वभौम और सर्वजनीन होंगे ।[41]

बीसवीं शती के अन्तिम दशक से समाज में दलित चेतना का विकास आरंभ हुआ, जिसका प्रभाव साहित्य पर स्पष्ट रूप से पड़ा है । कबीर के मूल्यांकन में भी इस स्वर को पहचाना जा सकता है । डा. धर्मवीर ने कबीर के अधिकांश प्रतिष्ठित आलोचकों की स्थापनाओं को अस्वीकार करते हुए लिखा है कि "कबीर दलितों के किसी पुराने धर्म के प्रचारक या अपने किसी नए धर्म के प्रवर्तक थे ।" कबीर सौ प्रतिशत शूद्रों और अन्त्यजों का धर्म स्थापित करना चाहते थे । अपने जैसे श्रमिकों और कारीगरों का धर्म खड़ा करना चाहते थे ।[42] वे कहते हैं कि कबीर का अपना एक अलग समाज है - इसे कबीर का लक्ष्य समाज कहा जा सकता है । इस लक्ष्य समाज में इस देश के शूद्र और अन्त्यज शुमार होते हैं । ये लोग यहाँ के अर्थशास्त्र में मजदूर और छोटे किसान बने हुए हैं । कबीर को केवल इनके भले की सोचनी है ।[43]

डा. धर्मवीर का अनुसरण करते हुए डा. शंभुनाथ ने भी "कबीर को "दलित आत्मपहचान की लड़ाई का बीजवपन करने वाला घोषित किया है । उन्होंने लिखा है कि "कबीर का साहित्य दलित आत्म पहचान के संघर्ष का एक मुख्य वैचारिक खोज बन सकता है । दलित साहित्य भावनात्मक स्तर पर अधिक समृद्ध हो सकता है यदि कबीर को एक मुख्य प्रेरणा बनाया जाए ।[44]

इस प्रकार अब तक के मूल्यांकन में कई तरह के रूप कबीर के दीख पड़ते हैं । पाश्चात्य विद्वानों के पास कबीर धर्म सुधारक, समाज सुधारक, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य विधायक, सर्वधर्म समन्वयकारी आदि रूपों में सुरक्षित

हैं, वहीं भारतीय विद्वानों के लिए रहस्यवादी, एकता के उपदेशक, लोक विरोधी और निम्न वर्ग के अगुआ, क्रांतिकारी, भक्त, संत, जनवादी, दलित धर्म के भगवान आदि रूपों में गृहीत हैं । अंग्रेज लेखकों ने कबीर को धर्म और ईसाइयत से जोड़कर अपना निष्कर्ष प्रतिपादित किया है तो भारतीय विद्वानों के लिए उनके मूल्यांकन का अपना अलग-अलग निकष है । हिन्दी साहित्य में कबीर की साहित्यिक प्रतिष्ठा कवि रूप में नहीं के बराबर है । हालाँकि इस ओर थोड़े प्रयास किए गए हैं और किए भी जा रहे हैं ।

कबीर अपने युग की विषम परिस्थितियों से गुजरते हुए अपने अनुभव बोध से जीवन मूल्यों के प्रति सजग बने रहकर अपनी चेतना में जन जन की आकांक्षाओं को समेटते हुए, उन्हें शब्दबद्ध करते रहे हैं । इसलिए उनकी रचना के मूल्यांकन के लिए तत्कालीन राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों को जानना अपेक्षित है । उनकी रचनाओं के मूल भावों से गुजरकर ही हम उनका मूल्यांकन निष्पक्ष भाव से कर पाएँगे अक्सर विद्वानों ने अपनी मान्यताओं को उन पर थोपने का प्रयास किया है, जिससे मूल कबीर की खोज में पाठक विभ्रम की स्थिति में जा पहुंचता है ।

अधिकांश विद्वानों ने भक्ति के उदय की व्याख्या "हिन्दू-तुरक संघर्ष" के रूप में की है । तदनुरूप तत्कालीन समाज में कबीर की प्रासंगिकता पर विचार किया है । इन लोगों ने भारतीय समाज और संस्कृति में आयी गिरावट और पिछड़ेपन को मध्यकाल के मुस्लिम शासकों से जोड़कर देखा और स्पष्ट रूप से उसके लिए भारत में मुसलमानों के प्रवेश को जिम्मेदार ठहराया है । जबकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की मूल स्थापना है कि अगर इस्लाम नहीं भी आया होता तो हिन्दी साहित्य का बारहवीं आना वैसा ही होता जैसा अभी है । मध्यकाल में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष ही प्रमुख नहीं था, सामंतो, जागीरदारों, भारतीय मुसलमानों और

हमलावर मुसलमानों के बीच भी सत्ता-संघर्ष चल रहा था । हिन्दुओं और मुसलमानों के सामंती संबंधों में एक तरफ तो साथ रहने की विवशता के कारण निकटता की शक्तियाँ काम कर रही थीं, वहीं दूसरी तरफ कट्टर साम्प्रदायिक विचारधाराएँ भी थीं जो हठ करके कुफ्र और इस्लाम के बीच के मेलजोल को पैदा होने से रोकना चाहती थीं ।[45] जो विद्वान मुस्लिम आक्रमणकारियों को केन्द्र में रखकर कबीर को हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतिपादक घोषित करना चाहते हैं, उन्हें यह मालूम होना चाहिए कि कबीर का विद्रोह समाज के तथाकथित प्रभु-वर्गों के खिलाफ था और वे निम्न जातियों के संवेदनाओं को वाणी प्रदान कर रहे थे ।

अपने विद्वतापूर्ण अध्ययनों के आधार पर इरफान हबीब ने यह सिद्ध किया है कि "दिल्ली सल्तनत की स्थापना के साथ ही कतिपय सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन हुए ।"[46] वहीं एम. अत्हर अली ने अपने शोध से यह स्पष्ट किया है कि "सल्तनत के राजनीतिक और आर्थिक ढाँचे में हिन्दुओं को आत्मसात करने के (कतिपय) - प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि धर्मों के सहअस्तित्व की स्वीकृति अप्रतिम थी ।"[47] इसलिए यह मानना कि इस्लाम के आगमन से हिन्दू राजकाज से अलग कर दिये गए, भ्रामक है । कबीर ने शोषितों के अन्दर शासक वर्ग के खिलाफ एक नई चेतना के उन्मेष में ही अपना जीवन होम कर दिया । चाहे वे शोषित किसी धर्म, सम्प्रदाय के हों । कबीर के सामने मध्यकाल का सामंती समाज था । उच्च-वर्ग भोग विलास में मग्न था तो दूसरी ओर सामान्य जन दैन्य का भार ढो रहा था ।

कबीर के समय समाज कई सम्प्रदायों में विभक्त था । कुछ ब्रह्मवादी थे, कुछ स्मार्त थे, कुछ शैव थे, कुछ शाक्त थे, कुछ कर्मकांडी थे, कुछ वैष्णव थे आदि आदि । तत्कालीन समाज मुख्य रूप से वर्ण व्यवस्था पर आधारित थी । इस्लाम के आने से पूर्व वैष्णव धर्म अपनी जड़ें जमा चुका था, जिसके

द्वारा निर्दिष्ट जाति व्यवस्था समाज के जीवन और सोच को विखंडित कर रही थी । हालाँकि वैष्णव धर्म के पूर्व बौद्ध धर्म अपनी चरमोत्कर्षता से पराभव की ओर निरन्तर स्खलित होता चला जा रहा था । वास्तव में बौद्ध, जैन धर्म का व्यापक वैचारिक प्रसार भारतीय चिंतन धारा पर यथेष्ट प्रभाव डाला है पर कालचक्र में जब इन विद्रोही दर्शनों में जब सम्प्रदायगत विभाजन हुए तो उनकी क्रांतिधर्मिता खत्म होती चली गई और धीरे-धीरे वैष्णव धर्म अस्तित्व में आया । बौद्ध धर्म की ही एक शाखा नाथपंथियों की मौजूद थीं । "मुसलमानों के आगमन के साथ ही साथ हिन्दू धर्म प्रधानतः आचार प्रवण हो गया । तीर्थ, व्रत, उपवास और लोकाचार की परंपरा ही उसका केन्द्र बिन्दु हो गयी ।"[49]

वैष्णव धर्म वर्ण-व्यवस्था पर आधारित थीं । "वर्णाश्रम असल में आंतरिक उपनिवेशीकरण है, जिसने अवर्णों, आदिवासियों और स्त्रियों को सांस्कृतिक रूप से हाशिए पर धकेलकर एक ही देश में वस्तुतः दो देश स्थापित कर दिए हैं ।[50] कबीर नाथपंथी विचारों के नवधर्मांतरित मुसलमान जुलाहा थे । निम्न जाति और कुल में होने के कारण कबीर ने सामन्ती समाज द्वारा शिल्पियों दस्तकारों, किसानों के साधनहीन जिन्दगी को जिया और उनके शोषण को सहा था । इसलिए उनके काव्य में उच्च-वर्गों के प्रति विद्रोह का स्वर झलकता है । वे एक जातिविहीन समाज के निर्माण के पक्षधर और समता भाव के पोषक थे । इसलिए उनके काव्य में जातिगत, वर्गगत और धार्मिक असमानता और भेदभावों का विरोध मिलता है । जहाँ तक धर्म का सवाल है, कबीर को दोनों धर्मों से संकीर्ण साम्प्रदायिकता की बू आती थी । इसलिए उन्होंने एक विशाल जातिविहीन विचारधारा के साथ सार्वभौमिक मार्ग वाले धर्म की कल्पना की थी ।

जहाँ तक कबीर के दर्शन की बात है उन पर तत्कालीन विभिन्न मत-मतान्तरों का प्रभाव पड़ा था और उन्होंने विभिन्न विचारधाराओं के लोक-कल्याणकारी तत्वों को अपने जीवन यथार्थ से जोड़कर समाज के लिए

एक प्रगतिशील दृष्टि निर्मित की थी । कुछ विद्वान उनकी आध्यात्मिक चेतना को रहस्यवाद कहकर उनकी महत्ता को कुंद करते रहे हैं । वे यह नहीं सोचते कि यह कवि दो दिशाओं में चलकर भी एक ही लक्ष्य को पाना चाहता है - "बेहतर मूल्य संसार" कुछ उन्हें सूफी रहस्यवादी भी मानते हैं । वस्तुतः उन्होंने अपने काव्य में जिस प्रेम की कल्पना की है, उसकी आध्यात्मिक व्यंजना से ही विद्वानों ने उन्हें सूफीज्म के अनुयायी मानने की भूल की है । हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि "वह (कबीर) प्रेम के मतवाले थे मगर अपने को उन दीवानों में नहीं गिनते थे जो माशुक के लिए सिर पर कफन बांधे फिरते हैं ।" प्याला, शराब, खुमार आदि शब्द मुसलमानी सभ्यता के साथ आए थे और उनका रूपबद्ध वर्णन भी उसके साहित्य के साथ इस देश में आया । इनका प्रयोग यह सिद्ध नहीं करता कि कबीर पर सूफी रहस्यवाद का प्रभाव था या वे सूफी रहस्यवादी थे ।

"कविता में जीवन के यथार्थ और अनुभव की अभिव्यक्ति दो रूपों में होती है - प्रत्यक्ष और सांकेतिक । एक में यथार्थ और अनुभव का सीधा वस्तुपरक वर्णन होता है और दूसरे में अलंकारों, बिम्बों, प्रतीकों तथा भाषा के अन्य इशारों के माध्यम से कवि यथार्थ और अनुभव की ओर संकेत करता है । प्रत्यक्ष रूप में चित्रित यथार्थ और अनुभव की पहचान सरल होती है, लेकिन जहाँ सांकेतिकता होती है वहाँ पहचान की प्रक्रिया कठिन हो जाती है ।"[5] इसी सांकेतिकता की सही पहचान के अभाव में विद्वानों ने उन्हें रहस्यवादी खेमे में डालने की कोशिश की है ।

उस समय राजनीतिक परिवर्तनों के फलस्वरूप प्रौद्योगिकीय विकास को एक नई गति मिली, श्रमिक वर्गों में चेतना का विकास हुआ । फिर भी सामाजिक व्यवस्था के अत्याचारों के कारण शिल्पी, श्रमजीवियों, किसानों तथा निम्न वर्गों की आर्थिक दशा चिंतनीय थीं । अधिकांश धन किसानों तथा अमीरों के पास एकत्रित था और बहुसंख्यक समाज अर्थाभाव से ग्रस्त । कबीर स्वयं श्रमिक वर्ग से जुड़े थे, इसलिए उन्होंने समाज के आर्थिक ढांचे पर

कड़ा प्रहार किया, क्योंकि वे जानते थे कि समाज तथा राष्ट्र में अधिकतर विवाद अर्थ व्यवस्था की असमानता से होता है ।

कबीर के काव्य में दैवीय चरित तो एक आधार है, मुख्य चिन्ता सामाजिक प्रतिबद्धता है । अपनी वाणी के माध्यम से उन्होंने समाज के नग्न यथार्थ को सामने लाकर व्याप्त विसंगतियों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया । "कबीर जिस समकालीन समाज से अपने रूपक ले रहे थे, वह अपरिवर्तनशील, आत्मनिर्भर, ग्राम्य गणतंत्रोंभर का समाज नहीं था । उस समाज में किसान का भयावह शोषण था, सामंती विलासिता थी बढ़ता व्यापार था और नगरों में पनप रहा दस्तकार वर्ग था ।"[52] कबीर ने समाज के इन यथार्थों को अपनी दृष्टि का केन्द्र बनाया, न कि वे वैयक्तिक-आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रतिबद्ध था । वे मनुष्य की स्वतंत्रता के विश्वासी थे । वे अन्य लोगों के लिए भी "आत्म-उत्तरदायित्व" का अधिकार चाहते थे । वे मनुष्य को हर प्रकार से अपनी निर्मिति का एकमात्र उत्तरदायी मानते थे । वे भारत ही नहीं, विश्व के महानतम कवियों में से एक हैं ।

आजकल कबीर के मूल्यांकन में एक नई दृष्टि का आगमन हुआ है वह उनके वैश्विक इमेज को दरकिनार कर अपनी जाति (दलित जाति) के भगवान के रूप में प्रस्तुत करने को कटिबद्ध है । वह इस महान विभूति को समाज से छीनकर अपने राजनीतिक प्रोजेक्ट के लिए इस्तेमाल करना चाहता है, जिससे कबीर की अस्मिता पर प्रश्न चिह्न सा लग गया है । जबकि कबीर ने एक विश्व-समाज के निर्माण में अपनी जिन्दगी झोंक डाली थी ।

संदर्भ :

1. कबीर की भक्ति का सामाजिक अर्थ - पुरूषोत्तम अग्रवाल, पृ. 2
2. कबीर एंड कबीर पंथ - जी. एच. वेस्टकॉट, पृ. 1
3. वही, पृ. 46
4. वही, पृ. 42
5. वही, प्रीफेस
6. रिलेजियस सैक्टस ऑफ हिन्दूज - विलसन, साभार, कबीर और कबीर पंथ - केदारनाथ द्विवेदी, पृष्ठ - 32
7. वन हंड्रेड पोयम्स आफ कबीर - रवीन्द्रनाथ टैगोर, पृ. 5 (भूमिका ए. अण्डरहिल)
8. वही, पृ. 8 (भूमिका, एवलिन अण्डरहिल)
9. कबीर :
10. मध्यकालीन भारत - सं. हरिश्चन्द्र वर्मा, पृ. 426
11. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 34
12. गोस्वामी तुलसीदास - रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 1
13. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 43
14. वही, पृ. 39
15. वही, पृ. 36
16. गोस्वामी तुलसीदास - रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 14
17. साभार, भक्ति आन्दोलन : इतिहास और संस्कृति - सं. कुंवरपाल सिंह, पृ. 18
18. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका - मैनेजर पाण्डेय, पृ. 61
19. कबीर - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 160
20. वही, पृ. 149
21. वही, पृ. 144
22. वही, पृ. 134
23. वही, पृ. 189

24. कबीर - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 188
25. वही, पृ. 189
26. वही, पृ. 186
27. भक्ति काव्य का समाजशास्त्र - प्रेमशंकर, पृ. 13
28. वही, पृ. 67
29. कबीर ग्रंथावली - श्याम सुन्दर दास, पृ. 51
30. वही, पृ. 35
31. कबीर का रहस्यवाद - रामकुमार वर्मा, साभार, कबीर (सं. विजयेन्द्र स्नातक), पृ. 84
32. कबीर की विचारधारा - गोविन्द त्रिगुणायत
33. सन्त कबीर - रामकुमार वर्मा, पृ. 35
34. कबीर बानी - अली सरदार जाफरी, पृ. 16
35. काव्य, रहस्यवाद और प्रतिरोध - प्रकाश सत्येन नटराजन, साभार "आजकल" अप्रैल 1999, पृ. 13
36. कबीर का युग - शिवदान सिंह चौहान, साभार "आजकल" अप्रैल 1999 पृ. 19

DISS
0,152,1,H98:8(4) 152 P1

37. कबीर : विद्रोह के मूल्य - विश्वनाथ त्रिपाठी साभार "आजकल" अप्रैल 1999, पृ. 9
38. कबीर का सच - नामवर सिंह, नवम्बर "हंस" 1999
39. कबीर और आज का समय - मैनेजर पाण्डेय, साभार, "आलोचना" 2000, पृ. 276-277 व 281
40. कबीर की भक्ति का सामाजिक अर्थ - पुरूषोत्तम अग्रवाल, भूमिका से
41. कबीर से मेरा नाता - पुरूषोत्तम अग्रवाल, साभार "आलोचना 2000 पृ. 287
42. कबीर के आलोचक - डा. धर्मवीर, पृ.
43. वही, पृ.

TH - 9134

Jawaharlal Nehru University Library

44. दलित आत्मपहचान की लड़ाई और कबीर – शंभुनाथ, साभार "आलोचना 2000, पृ. 309
45. जायसी – विजयदेव नारायण साही, पृ. 88
46. भक्ति आन्दोलन : इतिहास और संस्कृति – सं. कुंवरपाल सिंह (लेख – इरफान हबीब) पृ. 5
47. भक्ति आन्दोलन : इतिहास और संस्कृति – सं. कुंवरपाल सिंह (लेख एम. अतहर अली) पृष्ठ-२७
49. भारतीय धर्म साधना में कबीर का स्थान – हजारी प्रसाद द्विवेदी, साभार कबीर सं. विजेन्द्र स्नातक, पृ. 119
50. संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध – पुरूषोत्तम अग्रवाल, भूमिका से
51. भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य – मैनेजर पाण्डेय, पृ.
52. कबीर की भक्ति का सामाजिक अर्थ – पुरूषोत्तम अग्रवाल, पृ. 66

****

अध्याय - 2

सामाजिक अस्मिता की अवधारणा

अस्मिता एक अवधारणा के रूप में आधुनिक सामाजिक सिद्धान्त एवं राजनैतिक परिचर्चा में महत्वपूर्ण है और "अस्मिता की समस्या" बहुत सारे अर्थों में आधुनिकता का उत्पाद है । अस्मिता से संबद्धताएँ भी आधुनिक है, क्योंकि अब अपनी अस्मिता स्थापित करना और दूसरे लोगों की अस्मिताएँ पहचानना कठिन हो चुका है । आज के समय में व्यक्तिवाद के विकास ने आत्म-अस्मिता को जन्म दिया है । व्यक्ति विशेष अपनी पहचान एक नहीं दो धरातलों पर बनाता है । एक वो जो उसका निजी व्यक्तिगत लघु समाज है, जिसका वह अभिन्न अंग है । दूसरा है वृहत समाज जिसमें वह प्रवेश पाना चाहता है ताकि वह अपने आपको वाह्य जगत से जोड़ सके एवं किसी प्रभुत्व इकाई का भाग बन सके । यह विरोधाभासी लगने वाली दो प्रवृत्तियां एक तो अपने को अन्य से भिन्न देखने की उत्कट इच्छा और दूसरा अपने को इतर से जोड़ने की विकलता स्पष्ट रूप में एक ही "एस्प्योट्रम" के दो छोर हैं ।

इसलिए "अस्मिता का प्रश्न" मूलतः जहाँ एक ओर अपने आप को दूसरों से (साधारणं से) विशिष्ट एवं अलग करना है वहीं, दूसरी ओर उन लोगों के समुच्चय से एक उभयनिष्ठता एवं समानता को बनाए रखना है जिन लोगों ने विशिष्टता की अवस्था को प्राप्त कर लिया है । वर्तमान के संदर्भ में "अस्मिता-सिद्धान्त" उन खास और सीमित साहित्य में बची हुई है, जो इसकी वैज्ञानिक व्याख्या का विकास "प्रारूप विकल्प आचरण के संरचनात्मक एवं अंतक्रियात्मक परिप्रेक्ष्य" (स्ट्रक्चर सिम्बोलिक इंटर-एक्शनिस्ट पर्सपेक्टिव ऑफ रोल च्वायस बिहेवियर : स्ट्राइकर 1980) में ढूढ़ते हैं ।

अस्मिता सिद्धांत का प्रारूपिक प्रश्न है कि क्यो एक इंसान छुट्टी के दिन दोपहर में जहाँ अपने बच्चों को चिड़ियाखाना घुमाने ले जाता है, वहीं दूसरा उसी समय का विकल्प गोल्फ कोर्स में अपने मित्रों

के साथ चुनता है । "अस्मिता-सिद्धान्त" विश्वास करती है कि विकल्प की संभाव्यता मानवीय जीवन या अस्तित्व में अंतर्भूत है । अस्मिता-सिद्धान्त" इस सामाजिक सत्य की पहचान करती है कि सामाजिक संरचना एवं सामाजिक अंतर्क्रिया वैसे अंतर्भूत कारक है जो मानवीय आचरण निर्धारित करते हैं । "अस्मिता-सिद्धान्त एक ही परिस्थिति में विभिन्न लोगों द्वारा किए गए विभिन्न आचरणों में अपनी व्याख्या खोजती है ।"[2]

यह अमूर्त्त एवं दार्शनिक ढ़ंग से ठीक है कि इंसान किसी भी परिस्थिति में अपने चुनाव के साथ किसी भी ढ़ंग से आचरण कर सकता है । किन्तु किसी विशेष परिस्थिति में इंसान का निजी चुनाव मौत या कोई बड़ा दण्ड भी हो सकता है, बनिस्बत उस आचरण के जो दूसरे लोग उससे चाहते हैं । मध्यकालीन समाज में "वर्णाश्रम व्यवस्था" मुठ्ठीभर लोगों के लिए तो स्वतंत्र इच्छा (फ्री विल) का विकल्प रखती थी, किन्तु बाकी पूरी जनसंख्या के लिए अभिशाप थी । वर्णाश्रम एक ऐसा बंधन एवं जेल समान चहारदीवारी था, जिससे मुक्ति या तो मौत था या फिर प्रव्राजक हो जाना । गृहस्थ संसार छोड़ देना पूरी तरह व्यवस्था छोड़ देना था । कबीर ने वर्णाश्रम की एक जीवन निर्धारक व्यवस्था के रूप में उसका प्रतिरोध किया । जिसमें चहारदीवारी फाँदकर भागने जैसे कामचलाऊ प्रतिरोध के बदले जेल तोड़ने जैसे तेवर थे । कबीर अपहृत अस्मिता वाले व्यक्तियों की मुक्ति के स्वरदाता थे । जिस ढंग से एक गिरफ्तार (जेल में) इंसान के लिए जीवन के विकल्प एवं सुविधाएँ घट जाती हैं और उन अल्प विकल्प वाले लोगों के सामने दो ही विकल्प रहते हैं, या तो दण्ड भोगते रहना या फिर चहारदीवारी फाँदकर या जेल तोड़कर स्वतंत्रता हासिल करना । जहाँ वे जीवन के अन्य विकल्पों का मुक्त चुनाव कर सकें । वर्णाश्रम की इसी गिरफ्तारी के प्रतिरोध में मानवीय अधिकारों का हेबकार्पस था कबीर का आह्वाहन । कबीर ने अपनी अस्मिता स्वयं निर्मित की थी ।

इस प्रकार "अस्मिता एक संचरित, निर्मित प्रतिनिधित्व है, जो अपना धनात्मक (अपनी सफलता) सिर्फ ऋणात्मक (साधारण या विफल) की संकुचित दृष्टि के माध्यम से प्राप्त करती है । किन्तु अपने निर्माण से पहले इसे (अस्मिता को) अन्य लोगों की नजरों/दृष्टियों/आँखों की चुभन (सुई के समान) से गुजरना पड़ता है । अन्य लोगों के प्रतिरोध को सहना पड़ता है ।"[3]

"संकेत-अंतर्क्रियात्मक ढ़ाचे" (स्ट्रक्चरल सिम्बोलिक इंटरेक्शनिस्ट) पर आधारित "अस्मिता-सिद्धान्त" के दो रूप हैं - परम्परागत और आधुनिक । परम्परागत आधुनिक सिद्धान्त के कुछ पूर्वानुमान हैं - -

"(1) मानव कर्ता एवं प्रतिकर्ता (एक्टर एंड रिएक्टर) दोनों है ।

(2) मानवीय आचरण एवं प्रतिक्रियाएं क्रिया एवं प्रतिक्रिया की परिस्थितियों द्वारा परिभाषित होती है, अर्थात मानवीय आचरण दूसरों के साथ उसकी अंतर्क्रिया पर निर्भर है ।

(3) व्यक्ति की आत्म-अवधारणा उस ढ़ंग से निर्धारित होती है, जिस ढ़ंग से उस व्यक्ति की क्रिया एवं अंतर्क्रिया का उत्पादन होता है ।

(4) आत्म-प्रतिबिम्बित समाज की अवधारणा, व्यक्ति की आत्म-अवधारणा उसी ढर्रे पर बनती है, जिस ढर्रे पर अन्य लोग उसके साथ व्यवहार करते हैं ।

(5) समाज "आत्म" का ढांचा तैयार करती है और वह "आत्म" फिर "सामाजिक व्यवहार" का ढांचा तैयार करता है । सोसायटी - सेल्फ-सोशलबिहेवियर ये तीनों परस्पर अनुक्रमानुपाती हैं ।"[5]

"परम्परागत संकेत अंतर्क्रियात्मक ढांचा" समाज को बड़ी असंगठित इकाई के रूप में देखता है, जहाँ व्यक्तिगत व्यवहार में समाज एवं सामाजिक-ढांचे का कोई खास महत्व नहीं है । जबकि समकालीन समाजशास्त्रीय दृष्टि वैज्ञानिक एवं संवेदनशील है, जो व्यक्ति की अंतर्क्रिया एवं संबंध पैटर्न को

आधार बनाकर समाज का विश्लेषण करती है । नई दृष्टि सामाजिक-संरचना की अपरिवर्तनशीलता एवं उसके द्वारा आत्मनिरीक्षण की कमी की प्रवृत्ति को रेखांकित करता है । नई दृष्टि समाज को बहुत सारे अंतरों में बंटे एक बड़ी संगठित इकाई के रूप में देखता है, जहां सामाजिक वर्ग, उम्र, अर्थ आदि के अंतर हैं । नए अस्मिता सिद्धान्त के निम्नलिखित संकल्पनाएं हैं -

"(1) सामाजिक व्यवहार की साधारण श्रेणी "रोल च्वायस" द्वारा निर्धारित होती है । विभिन्न रोल या भूमिका में कार्य विभिन्न तरह की आशाओं को पूरा करते हैं ।

(2) सामाजिक व्यवहार - भूमिका चयन (रोल च्वायस) - आत्मगर्व (अस्मिता विशिष्टता) - सामाजिक विशिष्टता की प्रतिबद्ध श्रेणी सभी एक दूसरे से जनित हैं एवं प्रभावित करते हैं ।"[5]

नए अस्मिता सिद्धान्त ने अस्मिता एवं उसके परिवेशकारक को सूत्रबद्ध किया है । इससे कम से कम हम इतना समझ सकते हैं कि किसी भी समाज, परिवेश में व्यक्ति अपने आपको जिस विशिष्टता एवं ढर्रा पर पहचानने की कोशिश करता है, वही उसकी अस्मिता होती है, साथ ही समाज भी उसे उसी ढर्रे पर कबूल करता है । इस नई दृष्टि ने "सेल्फ" की नई अवधारणा सामने रखी । "सेल्फ" कोई एक इकाई नहीं है बल्कि वह रिस्पोंसिव है, परिवर्तनशील है । जेम्स ने 1890 में ही कहा था कि "व्यक्ति के पास उतने सारे "सेल्फ" हो सकते हैं, जितने कि वे दूसरे सारे लोग जो उनसे प्रतिक्रिया करते हैं और कम से कम उतने तो जरूर जितने वर्ग के लोगों से उनकी अंतर्क्रिया होती है ।"[6] "समाज" और "सेल्फ" को नई दृष्टि ने जटिल और बहुरूप तो माना ही पर संगठित भी माना ।

स्ट्राइकर (1968) एवं सर्फ (1987) ने दिखाया कि "एक धार्मिक रोल में गुजारा गया समय एवं भूमिका की वरीयतानुसार समय का वितरण

दोनों ही अस्मिता की महत्वपूर्णता से जुड़े हुए हैं ।"[7] बर्क एंव टूली §1977§, बर्क एवं रिज §1981§, तथा बर्क एवं होयल्टर §1988§ ने "अस्मिता एवं लिंग, शिक्षा, व्यवसाय आदि के बीच सम्बन्धों को दिखाया ।"[8] कालरो §1980§, होवार्ड एवं पिलिविन §1987§ आदि ने "प्रतिबद्धता एवं अस्मिता महत्व तथा अनुसारी कार्यों के बीच सम्बन्धों को दिखाया ।"[9] स्ट्राइकर ने होसचाइल्ड के साथ भावना को भी अस्मिता सिद्धान्त में स्थान देने की कोशिश की । उनके अनुसार भावना के अनुभव एवं उसकी अभिव्यक्ति अस्मिता के बारे में महत्वपूर्ण संदेश रखते हैं ।"[10] नए अस्मिता सिद्धान्त की दृष्टि यह सीख देती है कि वर्ग, धर्म, वर्ण आदि §भारतीय परिप्रेक्ष्य में§ सामूहिक अस्मिता के बजाए एक सामाजिक परिधि एवं अवरोध का काम ज्यादा करते हैं । इसी वैयक्तिक सत्ता की परिधि के बाहर की पहचान बनानी चाही थी कबीर ने ।

अस्मिता के उत्पादन के दो रूप या प्रतिदर्श हैं - अनिवार्यवाद एवं निर्माणवाद । पहले में एक सार §एशेन्स§ या केन्द्रीय गुणों के समुच्चय का आश्वासन है जो कि उस समूह के सभी सदस्यों द्वारा बांटा या उपयोग किया जाता है, किसी अन्य द्वारा नहीं । सामूहिक अस्मिता एक समान उत्पत्ति, जन्म या एक समान अनुभवों की संरचना द्वारा परिभाषित होती है । हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन में ऐसी परिचर्चाएं कोई खास बात नहीं है, जो हमें अस्मिता के अनिवार्य श्रेणी के रूपों यथा - जाति, राष्ट्र, लिंग, वर्ण आदि के बारे में बताती हैं । जिससे समान उत्पत्ति एवं अनुभव में विश्वास करने वाले लोग समान विशेषताएं, गुण धारण किए हुए दिखते हैं । यानि सभी काले अनिवार्यतः एक जैसे होने चाहिए, सभी औरतें एक समान होनी चाहिए आदि । "सामाजिक निर्माणवाद" जो कि सामाजिक विज्ञान की बहुत लोकप्रिय अवधारणा है, ने इस विचार को चुनौती दी कि अस्मिता का कोई प्रमाणिक या प्राकृतिक मूल होता है । इसने अस्मिता के अनिवार्य एवं आनुवांशिक धारणा पर जबरदस्त आक्रमण किया । परन्तु, दूसरी ओर इस धारणा ने इस विचार का बहिष्कार

किया कि अस्मिता का उत्पादन शुद्धतः व्यक्तिगत इच्छाओं के क्रियान्वयन (कार्यों) द्वारा ही हो सकता है ।

अस्मिता के बारे में नवीनतम दृष्टियों ने इस बात पर अत्यधिक बल दिया है कि पूरे ढंग से सं विधित (बनी हुई) अलग, अनन्य एक और विशिष्ट अस्मिता असंभव है । अस्मिताएं हमेशा संबंध-सापेक्ष (कोई एक अस्मिता किसी दूसरी अस्मिता के साथ संदर्भ और संबंध में ही हो सकती है) होती है, एवं अपूर्ण या अधूरी (अस्मिता हमेशा निर्माण के क्रम में ही होती है) औरअस्थिर तथा तात्कालिक होती है । इस नये दृष्टिकोण में जोर अस्मिता के प्रगुणन, बहुलता पर है न कि एक एकल, अनन्य अस्मिता पर । बहुल अस्मिताओं का यह तथ्य उस आवश्यकता को अग्रसारित करता है जिसे कौबिना मरब्यू ने "जाति, वर्ग और लिंग का मंत्र"[11] कहा है । जरूरत सिर्फ इस बात की है कि हमारे भीतर वैसी योग्य दृष्टि पैदा हो जाए जिससे हम कृत्रिम रूप से बनी अस्मिताओं के बीच एक ही समय में एक से ज्यादा अन्तरों को स्पष्ट एवं सिद्धांतीकृत या प्रमेयित कर सकें ।

वास्तव में अस्मिता एक मनोसामाजिक (साइकोसोशल) स्थिति है, जिसका वस्तुपरक अर्थ है व्यक्तिगत स्तर पर समानता एवं निरंतरता का भाव । व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक अस्मिता उसके स्वाभिमान संश्लेषण एवं अपने वर्ग में उसकी भूमिका द्वारा निर्धारित होती है । विलयम जेम्स (जो ईसाई को बताती है) ने व्यक्तिगत अस्मिता को वैसी नैतिक एवं मानसिक प्रवृत्ति माना है कि- वह हकीकत में "क्या" है ?"[12] अस्मिता निर्माण के सामाजिक पहलू को फ्रेड ने यह कहते हुए स्पर्श किया कि वह "आन्तरिक अस्मिता को परम्परा एवं बहुसंख्य आवरण से जुड़ा हुआ पाता है ।"[13]

इनहेल्डर एवं पि थाजे (1955) का अध्ययन कहता है कि "मानव अपनी युवा अवस्था में अपनी बीती सारी घटनाओं का सही

विश्लेषण कर पाता है कि अमुक घटना क्यों हुई ? उपचार के रूप में वह स्वयं अपने व्यक्तिगत, व्यवसायिक एवं वैचारिक विकल्पों को विकसित करता है ।"[14] एरिक एच. इरिक्सन ने कहा कि "धनात्मक अस्मिता के सुनिश्चित निर्माण से ही समाज पुनर्जीवित एवं उर्जस्वित होता है ।"[15]

ऐतिहासिक विश्लेषण यह मानता है कि अस्मिता एवं विचारधारा एक ही मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के दो पहलू हैं । एक जीवित विचारधारा वैसे विचारों एवं आदर्शों की व्यवस्थित श्रृंखला है जो आने वाली पीढ़ियों की मनोवैज्ञानिक अस्मिता के भूख को एक राहत प्रदान कर पाती है । क्या कबीर आज भी प्रासंगिक हैं ?

इस प्रकार "अस्मिताएं (अनिवार्यवाद और निर्माणवाद) व्यक्तिगत और राजनीतिक परियोजनाएं हैं, जिसमें हम भाग लेते हैं ।"[16] हम सब उन राजनीतिक खेलों की श्रृंखला के मोह में हैं जो कि इस भंग या विकेन्द्रीकृत अस्मिता के इर्द-गिर्द खेला जाता है ।"[17]

सामाजिक अस्मिता की इस पश्चिमी अवधारणा को भारतीय संस्कृति में भी विकसित होता देखा जा सकता है । जब हम समाज और उसकी चेतना का आकलन साहित्य संदर्भ में करते हैं तो पाते हैं कि साहित्य का समवेत प्रयोजन मूलतः समाज से जुड़ा होता है । साहित्य जीवन की पुनर्व्याख्या है, जिसमें जीवन के आख्यान के साथ ही साथ जीवन की आलोचना भी निहित है । समाज शब्द बहुसंदर्भीय है । इसके स्वरूप को समझने के लिए व्यक्ति, समूह, समुदाय, जाति, देश, राष्ट्र एवं विश्व की अवधारणाओं को समझना और उनके परस्पर संबंध सूत्रों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है । इन सब पक्षों के केन्द्र में "मनुष्य" विद्यमान है । सामाजिक परिवेश ही धीरे-धीरे जन-जीवन में अपनी एक संस्कृति का विकास कर लेता है, फिर उसी से सांस्कृतिक चेतना का विकास होता है जो अपने सामाजिक नियम बनाती चलती है । फिर उन्हीं सामाजिक

नियमों में सांस्कृतिक चेतना अपने ताने-बाने बुनती चलती है ।

इसलिए व्यक्ति की अस्मिता के लिए "समाज" का अस्तित्वबोध आवश्यक है । व्यक्तियों की सीमित वृत्तियों में जैसे जैसे सहअस्तित्व, समताभाव, सहिष्णुता आदि समष्टिपरक वैचारिकता आती जाती है वैसे-वैसे वह सामाजिक चेतना में प्रवेश करता जाता है । व्यक्ति अपनी निजी चेतना के साथ ही "समाज" भी होता है, क्योंकि उसकी चेतना परिवेश-संदर्भ से जुड़कर सामाजिक हो जाती है । तभी व्यक्ति अपनी विकसित चेतना में सामाजिक होने का अनुभव करता है ।

"आज मानव छद्म जातियों §शूडोस्पीशिज§ यथा जाति, राष्ट्र, धर्म, वर्गों आदि में बांट दिया गया है, जिसमें से हरेक अपने को अति-परिभाषित अस्मिता या पहचान का बताता है । फिर भी मानव मनोवैज्ञानिक अस्मिता §जो कि छद्म है§ का अतिक्रमण भी करता है ।"[18] कबीर ने भी यही किया । उन्होंने सारे कृत्रिम बंधनों को तोड़ "अखिल मानववाद" का आह्वाहन किया । यही उनकी अस्मिता थी जिसका अर्थ था एक साधारण मानव की मुक्ति । कबीर नई संचेतनता से लैस थे । उन्होंने अस्मिता के पूर्वाग्रही सामाजिक बंधनों को नकार कर उसे तोड़ने का आह्वाहन किया । कबीर की संचेतनता में व्यक्ति एवं समाज के लिए निर्माणकारी ऊर्जा थी, एक भावनात्मक प्रत्यक्षता थी और सामाजिक वास्तवपन §सोशल एक्चुवलनेस§ था । "जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र एवं समाजशास्त्र ने धर्मगत अस्मिता की अवधारणाओं को कुचल दिया §लिचेंस्टीन 1963§"[19] ठीक उसी तरह वर्णाश्रम के कर्म की अवधारणा को कबीर ने अपने समय में निर्गुण भक्ति के माध्यम से कुचला । कबीर के समय वर्णाश्रम व्यवस्था में ब्राह्मण "मास्टर रेस" था, जिनका धर्म था अन्य लोगों के जीवन पर आध्यात्मिक एवं भौतिक नियंत्रण । कबीर की क्रांतिकारी आस्था ने वर्णाश्रम व्यवस्था के वर्चस्व को चरमरा दिया ।

विशिष्ट अस्मिता का निर्माण या उसकी सफलता विपक्ष या अपर्याप्त संकुचित दृष्टि के माध्यम से प्राप्त होती है । निर्माण से पहले वर्चस्व के रूप में प्रतिष्ठित अस्मिताओं के प्रतिरोध का सामना भी करना पड़ता है । वर्ण व्यवस्था पर आधारित मध्यकाल का भारतीय समाज शास्त्र द्वारा नियोजित था । इस व्यवस्था में समाज के बहुसंख्यक वर्गों की मानसिक तृप्ति के लिए कोई समाधान नहीं था । कबीर ने अपनी प्रगतिशील दृष्टि और स्वनुभूत तर्कों के माध्यम से समाज को विश्लेषित करना शुरू किया । परम्परानुबद्ध वर्चस्वी वर्गों के प्रतिरोध की अवहेलना कबीर के जीवन का ही नहीं उनके काव्य का भी मूलउत्स है । और यही वजह है कि आज छः सदी के पश्चात भी कबीर के शब्द सरहदों के अतिक्रमण में अपनी सार्थकता प्रदर्शित कर रहे हैं ।

कबीर की दूरदर्शी चेतना यह भलीभाँति जान चुकी थी कि वर्ग, धर्म, वर्ण आदि कारक सूत्र सामूहिक अस्मिता की जगह सामाजिक परिधि एवं अवरोध का काम ज्यादा करते हैं । इसलिए उनका काव्य वैयक्तिक सत्ता की परिधि से बाहर निकलकर वैश्विक सत्ता के निर्माण के लिए प्रयासरत दिखता है । सामूहिक अस्मिता एक समान उत्पत्ति, जन्म या एक समान अनुभवों की संरचना द्वारा परिभाषित होती है । कबीर मानते थे कि सभी मनुष्यों का जन्म एक-सा हुआ है तो उसके लिए लौकिक विभाजन क्यों ? लौकिक विभाजन के परिणामस्वरूप ही आज मनुष्य पाशविक-वृत्तियों को हृदयंगम कर रहा है । कबीर के काव्य में अगर परम्परा का विद्रोह है तो उससे यह भी ध्वनित होता है कि वे उन परम्परानुयायियों से सिर्फ सवाल ही नहीं करते बल्कि उन्हें समझाते भी हैं कि अमुक परम्परा स्वच्छ समाज के निर्माण के लिए बाधक है । शोषितों को अपने कर्म और कर्तव्य के साथ अपने अधिकारों के प्रति सजग करने वाली चेतना के निर्माण में कबीर के शब्द आज सबसे अधिक प्रासंगिक हैं । कबीर ने जिस अमर देश की कल्पना की थी, वह वास्तव में उच्च मानव मूल्यों का संसार था जहाँ

मनुष्य एक दूसरे से मनुष्य की हैसियत से मिल सके । उनकी कविता मनुष्यता के मूल भावों को व्यक्त करती है ।

आज हम अपनी शिनाख्त "व्यक्ति अस्मिता" एवं "सामुहिक-अस्मिता" के पूरक एवं सापेक्ष सम्बन्धों में कर सकते हैं । इतिहास की अपरिपक्व अवस्थाओं से गुजरता हुआ मानव आज भी विकासमान है । यह सत्य है कि अस्मिताओं और विचारधाराओं में पुरानी रूढ़ अत्याचारी मान्यताओं के ध्वंस पर ही अपना श्वास प्राप्त किया है और यह प्रक्रिया अनवरत जारी है । मानव के विकास की इस अवस्था के लिए अत्यावश्यक है कि एक अखिल मानव अस्मिता की पहचान बनाई जा सके, जिसकी शैली (एथिक्स) सार्वभौम या वैश्विक हो । आज का प्राविधिक विकास एवं संप्रेषण तकनीकों की उन्नति अस्मिता को उद्भाषित भी कर रही है । भारतीय सामाजिक परिदृश्य में अखिल मानववाद के प्रारंभिक उद्घोषकों में कबीर का विशेष स्थान है, जिन्होंने अपने समय के संप्रेषणहीन विश्व में भी मानव की पराधीनता की उन तमाम बेड़ियों का प्रतिकार किया जिसे धर्म कह लें, जाति कह लें, वर्ण कह लें या कुछ और । अत्याचारी अस्मिताओं व विचारधाराओं के ध्वंस में ही क्रांति का स्फूरन छिपा रहता है । सांस्कृतिक संकट के शीर्ष व्याख्याता कबीर निश्चित रूप पर अपने समय के समाज में अधिकांश लोगों के लिए दीप्त स्फूरन थे ।

आज जब एक नये राष्ट्र "क्षेत्रीय अस्मिता" को सोखने का प्रयत्न कर रहे हैं । नये बाजार "राष्ट्रों की अस्मिता" को खत्म करने का प्रयास कर रहे हैं । विश्व बढ़-चढ़ कर अंतरीक्ष में मंगल तक पहुंच रहा है तब शायद हम जरूर एक नये "यूनिवर्सल पहचान" की तलाश कर रहे हैं । यह पहचान मानव द्वारा स्थापित की जानी है । इस प्रक्रिया में कबीर आज भी प्रासंगिक हैं क्योंकि उन्होंने मनुष्य के एक बड़े भाग को मुक्ति की राह दिखाई ।

संदर्भ :

1. इन्साइक्लोपिडिया आफ सोशियोलॉजी - एडगर एफ. बोरगेट एवं मेरी एल. बोरगेट (सं) पृ. 871
2. वही, पृ. 871
3. स्टुअर्ट हॉल (1991 : 21) कोटेड इन क्रिसेंस क्लासबर्ग 'आइडेंटिटी एण्ड कल्चरल स्टडीज : इज दैट ऑल देयर इज' (लेख)- क्वेश्चन ऑफ कल्चरल आइडेंटिटी, हॉल एण्ड ड्यूगे (सं.), पृष्ठ- 89
4. इन्साइक्लोपिडिया आफ सोशियोलॉजी - एडगर एफ. बोरगेट एवं मेरी एल. बोरगेट (सं.) पृ. 872
5. वही, पृ. 873
6. वही, पृ. 873
7. वही, पृ. 873
8. वही, पृ. 874
9. वही, पृ. 874
10. वही, पृ. 875
11. कोबिना मरक्यू (1992 b : 34) कोटेड इन ग्रासबर्ग अप्राप्य, पृष्ठ - 90
12. इंटरनेशनल इन्साइक्लोपिडिया आफ सोशल साइंसिज - डेविड एल. सिल्स (सं) वॉल्यूम-7, पृ. 61
13. वही, पृ. 61
14. वही, पृ. 63
15. वही, पृ. 61
16. डेविड बेली, स्टुअर्ट हॉल (1992 : 21) कोटेड इन ग्रासबर्ग अप्राप्य, पृष्ठ- 91
17. वही, पृष्ठ - 91

18. इंटरनेशनल इन्साइक्लोपिडिया ऑफ सोशल साइंसिज - डेविड एल. सिल्स (सं.) वाल्यूम-7, पृ. 62

19. वही, पृ. 63

****

अध्याय - 3

कबीर और समकालीन अस्मिता-विमर्श

वर्तमान समय में समाज का एक वर्ग अपनी पृथक पहचान के राजनीतिक एजेंडे के तहत कबीर को दलित धर्म के भगवान के रूप में व्याख्यायित करने का प्रयास कर रहा है । भारतीय संस्कृति में दलित-चेतना का उत्थान एवं प्रचार-प्रसार एक शुभ संकेत है, पर इसके लिए समवेत संस्कृति के मूल स्वरूप को विखंडित करना क्या उचित है ?

डा. धर्मवीर जैसे दलित चिंतक व प्रशासक ने कबीर को सिर्फ और सिर्फ अपने धर्म के संस्थापक के रूप में प्रस्तुत करने का बीड़ा उठाया है । तो नामवर सिंह कबीर के दुःख को जुलाहे के दुःख के रूप में परिभाषित कर रहे हैं । डा. धर्मवीर कबीर पर धर्म के दृष्टिकोण से विचार कर रहे हैं तो प्रो. नामवर सिंह जाति के आधार पर कबीर के व्यक्तित्व को सीमित करने का प्रयास कर रहे हैं । आज कबीर की आत्म-अस्मिता खुद उलटबाँसी बन चुकी है, क्योंकि भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न समयों में कबीर के भिन्न-भिन्न अर्थ प्रदान किए हैं ।

वर्तमान व्यवस्था से तिरष्कार का भाव और वैश्विक सत्य के निर्माण के लिए प्रयासरत कबीर का व्यक्तित्व किसी परिधि का मोहताज नहीं है । सर्वस्व न्यौछावर कर बीच बाजार में तनकर खड़ा हुआ और अपने तर्क एवं अनुभव के आधार पर समाज की आलोचना करने वाला शख्स समूचे मानव-जाति को उस सत्य का दिग्दर्शन कराना चाहता है, जहाँ भेद की कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती । शासकों के खिलाफ और शोषकों के पक्ष में उनके शब्द आज भी प्रासंगिक हैं । "दलितों और दरिद्रो", के ही वे प्रेरणा-स्रोत नहीं हैं बल्कि उर्ध्वगामी स्वच्छ और स्वस्थ समाज के सभी लोगों के लिए वे मार्ग-दर्शक हैं । उन्होंने अपनी कविता अपनी जातीय ताने-बाने में ही बुना है । पेशे में व्यवहृत शब्दावली के आधार पर उनकी कविता और उसके मर्म की पड़ताल उनके वर्गीय आधार को ध्यान में रखकर करना समीचीन नहीं है ।

"21वीं सदी के कबीर डा. धर्मवीर"[1] ने "कबीर के आलोचक" लिखकर साहित्यिक विमर्श में विचारोत्तेजक हस्तक्षेप किया, पर उनके विचार उनकी भावना को प्रश्रय देते हैं, कारण कि समाज के सबसे बड़े आलोचक कबीर को समझने के लिए व्यापक और गंभीर आलोचनात्मक चेतना की जरूरत है । यह पुस्तक (कबीर के आलोचक) बौद्धिकता से न लिखी जाकर प्रबल और प्रमाणिक भावावेग में लिखी गई है । इसलिए "इस पुस्तक को आलोचना के रूप में न पढ़ा जाकर दलित विमर्श के रूप में पढ़ना ही प्रासंगिक है ।"[2] पर धर्मवीर को इसमें भी आपत्ति है, वे कहते हैं "यदि डा. द्विवेदी की पुस्तक "कबीर" हिन्दी आलोचना की पुस्तक है तो "कबीर के आलोचक" निश्चित रूप से हिन्दी आलोचना की पुस्तक है ।"[3]

वस्तुत: धर्मवीर ने धर्म (दलित) के कौण-से कबीर पूर विचार करते हुए उसे अपने मत की प्रतिष्ठा के लिए उपयोग किया है । उनकी मुख्य चिन्ता समाज में व्याप्त वर्ण व्यवस्था के अधिकारी भेद से है और चूंकि कबीर के काव्य में इस अधिकारी भेद के खिलाफ विद्रोह का स्वर व्याप्त है, इसलिए वे कबीर को अपने राजनीतिक प्रोजेक्ट के लिए इस्तेमाल करने का उपक्रम करते हैं । धर्मवीर ने "अपने दलित धर्म को ब्राह्मणों की साहित्यिक चौकड़ी से मुक्त"[4] कर अपने धर्म के संस्थापक के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है । कबीर का साहित्यिक मूल्यांकन और उसकी निस्सारता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि "असल में, द्विज विद्वान के पास कबीर से निपटने के चार रास्ते हैं । पहले रास्ते में उन्होंने कबीर की उपेक्षा की है । इसके प्रवक्ता आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं । दूसरे रास्ते में कबीर के विरुद्ध संघर्ष किया गया है । इसके पुरोधा अयोध्या सिंह उपाध्याय "हरिऔध" हैं । तीसरे रास्ते में कबीर की वाणी को प्रक्षिप्त किया गया है । ऐसा "कबीर ग्रंथावली" और "बीजक" लिखकर किया गया है । .... चौथा रास्ता समाहार का है जिसके

विचारक डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं ।"[5]

डा. धर्मवीर की मूल मान्यता है कि कबीर या तो दलितों के किसी पुराने धर्म के प्रचारक थे या फिर अपने नये धर्म के प्रर्वत्तक । उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि "कबीर का अपना एक अलग समाज है ... इसे कबीर का "लक्ष्य समाज" कहा जा सकता है । इस लक्ष्य समाज में इस देश के शूद्र और अन्त्यज शुमार होते हैं । ये लोग यहाँ के अर्थशास्त्र में मजदूर और छोटे किसान बने हुए हैं । कबीर को केवल इनके भले की सोचनी है ।"[6] "कबीर सौ प्रतिशत शूद्रों और अन्त्यजों का धर्म स्थापित करना चाहते थे ।"[7]

धर्मवीर ने "कबीर पर कब्जे की लड़ाई" की शुरुआत तो अवश्य की है पर "इस लड़ाई की शैली साहित्यिक न होकर राजनीतिक है, क्योंकि इसमें कबीर के वस्तुगत मूल्यांकन की बात गौण और उन्हें अपने हक में इस्तेमाल करने की बात प्रधान है ।"[8] कबीर ने जिस धर्मविहीन, जातिविहीन समाज की स्थापना के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया, उसी शख्स को आज धर्म के साँचे में फिट किया जा रहा है । पृथकतावाद के कारक सूत्रों को पहचान कर जिस शख्स ने "हिन्दू कहाँ तो हो नहीं, मुसलमान भी नाहिं" का पाठ पढ़ाकर जन-जन को एकसूत्र में बांधने का प्रयास किया उसे ही आज गुरू और धर्मगुरू कहकर अपनी एक पृथक पहचान का प्रेरणा-स्रोत बनाया जा रहा है ।

धर्मवीर के चिंतन का मुख्य लक्ष्य ब्राह्मणवादी व्यवस्था से विद्रोह करना है इसलिए कबीर को सामने लाकर उन्होंने "ब्राह्मणी कानून की वजह से अपने खोए हुए रिश्ते की खोज"[9] करनी चाही है । अनेकशः विद्वानों ने कबीर के मूल्यांकन में अपना योगदान दिया है, परन्तु धर्मवीर की जातीय लड़ाई वर्णव्यवस्था के उच्चाधिकारी ब्राह्मणों से है इसलिए वे कबीर के मूल्यांकन में उन सभी विद्वानों के मतों को असहज,

अतार्किक भाव से खारिज करते हैं, जिनके नाम में ब्राह्मणत्व का ठप्पा लगा हो । उनके चिंतन के स्वर प्रगतिशील क्यों न हो पर धर्मवीर की अपने तथाकथित दलित धर्म के प्रति प्रतिबद्धता उन सबोंके चिंतन की उपेक्षा करती है । "कबीर साहित्य के प्रतिष्ठित विद्वानों और आलोचकों के लिए उनकी कलम से जो शब्द निकले हैं, उनसे उनके प्रति उनके आक्रोश का पता तो चलता है लेकिन उनके मुकाबले कबीर साहित्य की उनकी समझ का नहीं ।"[10]

वस्तुतः धर्मवीर की मुख्य प्रतिद्वंद्विता डा॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी से है और चूंकि द्विवेदी जी जन्म से ब्राह्मण हैं इसलिए उनके चिंतन के हर पक्ष पर धर्मवीर को ब्राह्मण ही नजर आता है । धर्मवीर का मानना है कि "उन्होंने (हजारी प्रसाद द्विवेदी) "कबीर" नाम की किताब बहुत सोच-समझ कर लिखी है । उन्होंने पूरी कोशिश की है कि वे कबीर में न डूब जाएँ बल्कि कबीर उनमें डूब जाए ।"[11] धर्मवीर को यह जानना चाहिए कि हजारी प्रसाद द्विवेदी ही वह पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने "कबीर" नामक पुस्तक लिख कर कबीर को रहस्य के आवरण से निकाल कर क्रांतिकारी व्यक्तित्व प्रदान किया और साहित्यिक प्रतिष्ठा दिलाई । उनके आलोचनाक्रम में जो थोड़ी-बहुत न्यूनताएं हैं, उसकी पड़ताल की जानी चाहिए न कि विद्वेषपूर्ण असहमति । डा॰ धर्मवीर सिर्फ यह जानते हैं कि "कबीर दलितों के लिए मसीहत और पैगम्बरी लेकर आए थे, इसलिए इतने शक्तिशाली व्यक्तित्व को किन्हीं ब्राह्मण विद्वानों की सहानुभूति की जरूरत नहीं है ।"[12]

डा॰ धर्मवीर द्वारा की गई स्थापनाओं से गुजरते हुए जब हम उनके चिंतन प्रक्रिया को समझने का प्रयास करते हैं तो यह स्पष्ट नजर आता है कि वे अपनी मान्यता को स्थापित करने के लिए न कोई प्रमाण देते हैं, न कोई युक्ति । उसके लिए वे सिर्फ अपनी भावना और आवेश का इस्तेमाल करते हैं । वे लिखते हैं कि "यदि कबीर भारत में मुसलमानी आगमन के देन थे तो डा॰ अम्बेडकर ईसाइयत के प्रभाव का परिणाम हैं ।"[13]

पर इसके लिए उन्होंने कोई माकूल तर्क नहीं पेश किया है । वे तर्क देते हैं कि "दलित को ऐसा अवसर तभी मिलता है जब विदेशी धर्म, हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म को कमजोर कर देते हैं । इतिहास में कबीर और अम्बेडकर के आगमन को मैं इसी संदर्भ में देख रहा हूँ ।"[14]

कोई भी व्यक्ति अपने समाज और परिवेश की उपज होता है और उसकी विचारधारा उसके अपने वर्ग द्वारा निर्धारित होती है । पर रचनाकार सिर्फ अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व ही नहीं करता, उसके चिंतन के स्वर एक वैश्विक सत्य के लिए बेचैन रहते हैं । वह हमेशा प्रगतिशील मूल्यों का संस्थापक हुआ करता है । अम्बेडकर ने समाज के निम्न वर्गों में अपनी अस्मिता के लिए नई चेतना के निर्माण का प्रयास किया, वह वास्तव में एक स्वच्छ समाज के निर्माण का प्रयास था । आज वे सिर्फ दलितों के महापुरूष ही नहीं हैं बल्कि सभी भारतीयों के लिए प्रासंगिक हैं । अम्बेडकर की बौद्धिक उन्नति में ईसाई मिशनरियों के योगदान को नकारा नहीं जा सकता क्योंकि किसी भी मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण में अनेक पहलुओं का योगदान होता है, फिर तो किसी अनोखे व्यक्तित्व की महत्ता पर किसी एक कोण से विचार नहीं किया जा सकता । अगर ऐसा होता है तो यह सिर्फ उन्हें अपने हक में इस्तेमाल करने वाली बात होगी ।

वस्तुतः कबीर और अम्बेडकर की तुलना ही बेमानी है । अम्बेडकर वैज्ञानिक व बौद्धिक युग के एक राजनीतिक विचारक थे जबकि कबीर मध्यकालीन समाज के सांस्कृतिक कलाकार । बौद्धिक विमर्श में दोनों के विचारों की तुलना की जा सकती है पर चूंकि डा. धर्मवीर एक रचनाकार के मूल्यांकन में समाज और परिस्थितियों के योगदान की चर्चा करते हुए उसकी तुलना अम्बेडकर से करते हैं जो साहित्यिक विमर्श की शैली नहीं है ।

कबीर के चिंतन पर इस्लाम के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता ।

डा. धर्मवीर को चूंकि द्विवेदी जी के तर्क को चुनौती देनी है इसलिए उन्होंने लिखा कि कबीर मुसलमानी आगमन के देन थे । डा. द्विवेदी की इतिहास दृष्टि की अपनी एक सीमा है । वे मध्यकालीन भक्ति के उदय को "भारतीय चिंताधारा का स्वाभाविक विकास" मानते हैं । अतः वे कबीर के मूल्यांकन में भी भारतीय संस्कृति में भक्ति के बीज रूप की खोज करते हुए उसका उत्कर्ष रूप स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं । कबीर के मूल्यांकन में द्विवेदी जी की आलोचना दृष्टि में थोड़ी बहुत न्यूनताएँ हैं और उसकी खोज की जानी चाहिए । उन्हें ब्राह्मणी मानसिकता से ग्रस्त बताने वाले बुद्धिजीवी स्वयं ही संकीर्ण दृष्टि का परिचय दे रहे हैं । डा. धर्मवीर के चिंतन के अस्तित्व में आने के पश्चात बहुत सारे बुद्धिजीवी उन्हीं के मार्ग पर अग्रसर हैं जो साहित्य के लिए शुभ संकेत नहीं है । डा. शंभूनाथ यह मानते हैं कि कबीर को हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ही सर्वप्रथम साहित्यिक प्रतिष्ठा दी थी और फिर वे कहते हैं कि कबीर को सही-सही पहचानने में डा. द्विवेदी के अपने संस्कार कुछ बिन्दुओं पर बाधक थे ।

वस्तुतः यह दलित आलोचना की शुरूआत न होकर अस्मितागत आलोचना की शुरूआत है । डा. धर्मवीर ने मध्यकाल में इस्लाम के आगमन को किन रूपों में देखा है यह उनके शब्दों से भलीभाँति स्पष्ट है वे लिखते हैं "मुस्लिम काल में विशेषतः यह रही है कि यह विदेशी आक्रमण राजनेता के साथ-साथ एक धर्म के रूप में भी आया था । इससे बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म दोनों सकते में रह गये । बौद्धकाल के विदेशी हमलावर धर्म के क्षेत्र में बौद्ध बन जाया करते थे लेकिन इस बार उनके पास अपना अलग मजहब इस्लाम था । बौद्ध लोग इस्लाम से धर्म के रूप में भी पिटे और राजा के रूप में उन्हें ब्राह्मण ने पहले ही पीट रखा था । ब्राह्मण लोग इस्लाम से धर्म के रूप में भी पिटे और राजनीतिक सत्ता के रूप में उन्होंने

राजाओं में कोई दम नहीं छोड़ रखा था । इसलिए मुस्लिम काल को भारत में धर्म के रूप में विशेष रूप से देखा जाना चाहिए ।"[16] फिर लिखते हैं कि "हुआ यह था कि धर्म के रूप में इस्लाम के आने के कारण भारत की दलित जातियों को यह अवसर मिला था कि वे इस्लाम को ग्रहण करके मस्जिद में प्रवेश कर सकते थे... ।"[17]

डा. धर्मवीर का सारा चिन्तन यह सिद्ध करने में लगा हुआ है कि कबीर दलितों के भगवान थे और उनका काव्य दलितों का धर्मग्रंथ है । इसी चिंतन के आलोक में वे कबीर के मूल्यांकन में असंगत तर्क पेश करते हैं । उन्होंने यह सिद्ध किया है कि "कबीर और अम्बेडकर के रूप में दलितों का धार्मिक, दार्शनिक और साहित्यिक नेतृत्व कबीर का जन्म मुसलमान के घर में होने के बावजूद तथा अम्बेडकर के बौद्ध हो जाने के बाद भी खुद दलितों के पास है ।"[18] "निश्चित रूप से कबीर ने इस्लाम से और डा. अम्बेडकर ने ईसाइयत से खुद को कोशिश करके दूर रखा है ।"[19]

डा. धर्मवीर यह मानते हैं कि कबीर का जन्म मुसलमान के घर हुआ था, पर उन्होंने इस्लाम से खुद को कोशिश करके दूर रखा । अब अगर कोई मुस्लिम यह सिद्ध करने का प्रयास करे कि कबीर ने मुस्लिम-धर्मावलंबियों के हक में अपनी आवाज बुलंद की है तो यह प्रकारांतर से डा. धर्मवीर के तर्क का ही अन्य संस्करण होगा । किसी भी रचनाकार के मूल्य को स्थापित करते हुए उस रचनाकार के धार्मिक पक्ष को उजागर करना सिर्फ अपने मत को पुष्ट करना है । डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने विद्वतापूर्ण अध्ययनों के आधार पर सिद्ध किया है कि कबीर नव-धर्मान्तरित मुसलमान थे जिनके पूर्वज नाथपंथी योगी रहे होंगे । अंतःसाक्ष्य के लिए कबीर की कविता में कहीं भी उनके जीवनवृत्त का उल्लेख नहीं है विद्वानों ने उनके जीवनवृत्त के निर्धारण में दाह्यसाक्ष्य या अधिकांशतः अनुमान का ही सहारा लिया है ।

तत्कालीन समय में राजपूत राजाओं की पराजय और तुर्कों के शासन की स्थापना के बाद ब्राह्मणों की श्रेष्ठता कम होने लगी थी । नाथपंथी विचारक ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और व्यवस्था को चुनौती देते चले आ रहे थे । कबीर पर नाथपंथी विचारों का प्रभाव है पर उसे सिर्फ प्रभाव रूप में ही ग्रहण करना चाहिए । कबीर ने अपने चिंतन को एक निष्पक्ष आधार दिया और सार्वभौमिक सत्य के लिए अपने शब्दों का निर्माण किया । इतना तो सर्वमान्य है कि कबीर जुलाहा थे । "उनकी कविता का ताना-बाना भी कहता है कि वह एक बुनकर की कविता है । उसका पूरा काव्यलोक एक जुलाहे के जीवन-यथार्थ के अनुभवों से बना हुआ है ।"[20]

कबीर जिस मध्यकाल की उपज हैं उस समय भारतीय वर्ण-व्यवस्था से त्रस्त निचली जातियों में एक ओर सामाजिक व्यवस्था से विद्वेष का भाव व्याप्त था तो दूसरी ओर इस्लाम के आगमन के पश्चात हुए सामाजिक परिवर्तनों ने उन तथाकथित निचली जातियों में अपनी अस्मिता के लिए नई चेतना का उन्मेष भी हो रहा था । कबीर जुलाहा जाति के थे जिनका व्यवसाय कपड़ा बुनकर बेचना था । कुछ विद्वानों ने मध्यकाल में इस्लाम के आगमन को सिर्फ धर्म विद्वेष की संज्ञा देकर सामाजिक व्यवस्था के एक पक्ष पर विचार किया है । जबकि मनुष्य की स्वतंत्रता का सबल पक्ष उसका आर्थिक आधार है । मध्यकाल में "तुर्की विजयों ने "उपभोग के लिए" उत्पादन की स्थिति को "बाजार के लिए उत्पादन" में बदलने की प्रक्रिया शुरू की ।"[21] जिसके फलस्वरूप "अस्पृश्य और अतीव निम्न जातियों के ये शिल्पी प्रवक्ता व्यापक शमूलियत की संभावना के साथ नगरों में पहली बार मुक्त ढंग से अपनी बात कहने सुनने की सुविधा पा रहे थे । इन नए परिवर्तनों में कबीर देख रहे थे कि बेचारगी से मुक्त न होने का सबसे बड़ा कारण मानसिक दासता थी । यह मानसिक दासता वर्चस्वी वर्ग द्वारा विचारधारा के स्तर पर एक मनोवैज्ञानिक आतंक का सृजन करते हुए कायम रखी गई थी ।"[22]

इस्लाम के आगमन के पश्चात नगरीय आर्थिकता के तहत सक्रिय शिल्पी प्रवक्ता एक सांस्कृतिक आंदोलन के साथ निम्न तबकों की एकजुटता के लिए आगे आए । इस आंदोलन का मूल साधन भक्ति था, जिसकी नींव पर कबीर ने मानसिक गुलामी से निजात पाने के लिए निम्न, दलित, शोषित वर्गों के लिए आत्मविश्वासपूर्ण एक नई सांस्कृतिक संरचना का सूत्रपात किया था । जो मनुष्य की स्वतंत्रता का विश्वासी है, जो अपने लिए ही नहीं दूसरों के लिए भी, आत्मउत्तरदायित्व का अधिकार चाहता है, जो मनुष्य को हर प्रकार से अपनी निर्मिति का एकमात्र उत्तरदायी मानता हो वह संस्थाओं और पंथों का न तो निर्माण कर सकता है और न उनकी निर्मिति का आदेश ही दे सकता है ।

डा. धर्मवीर ने कबीर के पदों की जो दलितवादी व्याख्या प्रस्तुत की है उसे नामवर सिंह एक प्रकार सेअनुचित ही ठहराते हैं । उनका मानना है, "कबीर जैसे कालजयी कवि और समाजसुधारक को ... सीमाओं में बांधने की कोशिश हो रही है । कुछ लोग उनकी कविताओं को दलित साहित्य के खाँचे में फिट करने में लगे हैं ।"[23] पर नामवरसिंह की चिंता भी अधूरी ही है । क्योंकि डा. धर्मवीर ने अपने दलित कबीर को ब्राह्मणों की साहित्यिक चौकड़ी से मुक्त न करके साहित्य से ही मुक्त करने का प्रयास किया है । डा. धर्मवीर यह मानते हैं "कबीर दलितों के एक बेहद फिक्रमंद मसीहा थे ।"[24] इसलिए कबीर की कविता सिर्फ दलितोपदेश है । वे कबीर प्रेमियों को चेतावनी के स्वर में कहते हैं कि "कबीर की तुलना तुलसी और सूर से नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि कबीर की टक्कर तुलसी और सूर के अराध्य देवों राम और कृष्ण से है ।... दलितों के भगवान की तुलना द्विजों के भक्तों से नहीं की जानी चाहिए ।"25 और फिर वे कहते हैं कि "सगुण या निर्गुण के साथ भक्ति की समस्या हिन्दुओं की है, कबीर की नहीं ।"[26]

डा. धर्मवीर कबीर को एक प्रोजेक्ट के रूप में इस्तेमाल करते हुए दलित धर्म के लिए पेटेंट करने का भी प्रयास करते हैं जो असंगत और अतार्किक है । वे सिर्फ भावना और आवेश का सहारा लेते हैं जहाँ तर्क की गुंजाइश नहीं दिखती । वे कबीर के माध्यम से ब्राह्मणी कानून की वजह से खोए हुए अपने उस रिश्ते (१९) की खोज में हैं । यह प्रत्येक प्रगतिशील बुद्धिजीवी, चिंतक, विचारक जानता है कि मनुवादी वर्णव्यवस्था स्वच्छ समाज के निर्माण में बाधक है । इसके लिए क्या दलित होना ही आवश्यक है ? हर चिंतक की अपनी विचारधारा होती है और उसके विचार अपने वर्ग के प्रति संवेदित भी हुआ करते हैं । अपनी विचारधारा को प्रस्तुत करने के लिए अनावश्यक रूप से किसी अन्य चिंतक को मोहरा बनाना उचित है ? डा. धर्मवीर जिन्हें "21वीं सदी के कबीर" की उपाधि से विभूषित किया जा चुका है, प्रकारांतर से यही सब करने पर तुले हुए हैं ।

डा. धर्मवीर को द्विज हिन्दुओं और उनके विचारों से सख्त आपत्ति है । कबीर का जन्म मुसलमान के घर होने के बावजूद कबीर ने इस्लाम से अपने आप को दूर रखा आखिर क्यों ? इसकी पड़ताल डा. धर्मवीर ने नहीं की है । डा. धर्मवीर सिर्फ यह जानते हैं कि "इस्लाम ने धर्म के मामले में दलित को आशा और राहत दी है ।"[27] दलित सिर्फ हिन्दू हो सकता है मुस्लिम नहीं और इनकी यही दृष्टि एकांगी सोच का परिचायक है । वे पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर अपने राजनीतिक प्रोजेक्ट के लिए ही कबीर का इस्तेमाल कर रहे हैं । मैनेजर पाण्डेय की चिंता भी स्वाभाविक ही है कि "कबीर ने इस्लाम की भी कटु आलोचना की है । .... इन सबको डा. धर्मवीर ने नहीं छुआ ।"[28]

डा. धर्मवीर की जातीय लड़ाई सिर्फ और सिर्फ ब्राह्मण जाति से है । कबीर के गुरू के संदर्भ में उनका यह कथन बहुत ही चिंताजनक और अशोभनीय है कि "कबीर के गुरू मक्खी और मच्छर हो सकते हैं, कबीर

के गुरू कुत्ते और बिल्ली हो सकते थे लेकिन रामानन्द ब्राह्मण उनके गुरू कभी नहीं हो सकते थे ।"[29]

"काशी में हम प्रकट भये हैं रामानन्द चेताए"

अगर यह वाक्य कबीर का है तो निश्चित रूप से रामानन्द कबीर के गुरू हैं । नाभादास कृत "भक्तमाल" जो संवत 1642 की रचना है, उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कबीर रामानन्द के शिष्यों में से एक थे । वस्तुत: कबीर के गुरू के संबंध में विवाद का सूत्रपात "खजीनतुल असाफिया" नामक पुस्तक से हुआ है जिसकी रचना सन 1868 ईस्वी में मौलवी गुलाम सरवर ने की थी । कबीर के गुरू के संबंध में जब तक कोई दृढ प्रमाण नहीं मिलता इस सत्य से पीछे भी नहीं हटा जा सकता कि रामानन्द कबीर के गुरू थे । नाभादास ने भक्तमाल में रामानन्द के शिष्यों की जो सूची दी है उसमें सभी वर्णों और लिंगों के शिष्य हैं । इस रूप में रामानन्द के साम्प्रदायिक चरित्र का किस प्रकार खुलासा होता है । अब अगर धर्मवीर यह कहते हैं कि रामानन्द चूंकि ब्राह्मण थे इसलिए कबीर के गुरू नहीं हो सकते कोरा बकवास है । बहुत संभव है कि कबीर अपनी घुमक्कड़ प्रवृत्ति के कारण विभिन्न महात्माओं और गुरूओं के सत्संग में आये हों ।

"विद्या न पढ़ौ, वाद नहिं जानयौ"

"मसि कागद छुयो नहिं, कलम गह्यो नहिं हाथ" -

जैसी पंक्तियों का रचियता अपने अनुभव और तर्क के आधार पर ही वक्त की सच्चाईयों को सामने लाता है । जिस प्रेम की अवधारणा को कबीर प्रस्तुत करना चाहते थे, उसके लिए पोथियों के ज्ञान की दरकार नहीं थी । अब अगर धर्मवीर यह कहते हैं "कबीर अपने युग के सबसे अधिक शिक्षित व्यक्ति थे" और "कबीर गैर-संस्कृत भाषा के मामले में सबसे ज्यादा पढ़े-लिखे व्यक्ति थे" तो साहित्य का पाठक कबीर के मूल्यांकन में उनकी काव्य-पंक्तियों को ध्यान में रखे या फिर धर्मवीर की भावना का सहारा ले ।

कबीर की कविता से स्पष्ट है कि वे वयनजीवी जुलाहा जाति के सदस्य थे । अपनी प्रगतिशील दृष्टि से उन्होंने समय के यथार्थ को देखा और भोगा था । उनकी कविता में शोषितों के प्रति सहानुभूति और अत्याचारों के विरुद्ध खुला विद्रोह जो व्याप्त है वह सिर्फ दलितों के लिए ही नहीं वरन् उन तमाम शोषितो, पीड़ितों और समूचे मानवधर्म के लिए है, जो सार्वभौम एकता और वैश्विक समाज के निर्माण का इच्छुक हो । डा॰ धर्मवीर की आलोचना दृष्टि दलित लॉबी के लिए भले ही प्रशंसनीय हो लेकिन साहित्य के साथ एक खतरनाक साजिश है ।

वर्तमान समय में बहुत सारे दलित लेखक, कुछ अन्य लेखक भी डा॰ धर्मवीर को "दलित लेखन के शिखर पुरुष" के रूप में परिभाषित कर रहे हैं और उनकी तुलना डा॰ अम्बेडकर से की जा रही है । दलित साहित्य बनाम गैर-दलित साहित्य के बीच छिड़ी जंग में नुकसान साहित्य का ही होगा । हिन्दी साहित्य के मूधर्न्य आलोचक प्रो॰ नामवर सिंह ने डा॰ धर्मवीर के लेखन की सराहना कर कबीर को चाहरदीवारी में घिर जाने देने की छूट देनी चाही है । वह लिखते हैं कि "डा॰ धर्मवीर यह ग्रंथ लिखकर बधाई के पात्र हैं । उन्होंने हिंदी आलोचना में ऐसा सशक्त हस्तक्षेप किया है जो एक सक्षम दलित पक्ष की ओर से पहली बार और सही समय पर किया गया है । यह आवाज दलितों की ओर से उठी है कि वे अपने कवि पर खुद कब्जा करेंगे । सवर्ण होने के कारण जिन चीजों पर हमारी नजर नहीं जाती थी वहाँ पहली बार दलितों की नजर जा रही है ।"[30]

डा॰ नामवर सिंह ने धर्मवीर के आलोचना कर्म को कुछेक आपत्तियों के बाद उचित ही ठहराया है क्योंकि नामवर सिंह अब यह मान चुके हैं कि "कबीर की कविता का मर्म दलित ही समझ सकता है ।"[31] डा॰ धर्मवीर के तर्क का अनुसरण करते हुए जब नामवर सिंह यह सिद्ध करने का प्रयास करते

हैं कि "कबीर का दुःख एक जुलाहे का दुःख है" तो यह कबीर को उनके सामाजिक वर्गाधार तक सीमित करने की एक सफल चेष्टा है । "कबीर की कविता को अस्मिता विशेष की अभिव्यक्ति और स्वप्न तक सीमित कर देना उतनी ही समझदारी का काम है जितना कि उनकी सामाजिक आलोचना को जाति विशेष के प्रति विद्वेष का प्रमाण मानना ।"[32]

किसी व्यक्ति के विचार उसकी सामाजिक स्थिति से बंधे होते हैं । कोई विचारक समाज में स्थित अपनी विशेष जगह से ही विचार करता है । व्यक्तित्व का निर्माण समाज, परिस्थितियाँ और परिवेश के द्वन्द्व की उपज होता है । "कबीर दास का लालन पालन जुलाहा परिवार में हुआ था, इसलिए उनके मत का महत्त्वपूर्ण अंश यदि इस जाति के परम्परागत विश्वासों से प्रभावित रहा हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है ।"[33] पेशेवर नीची जाति में पोषित होने के कारण कबीर ने सामंती समाज में दस्तकारों, किसानों, शिल्पियों के सुविधाहीन जिन्दगी को जिया था और उनके शोषण को सहा था । इसलिए उनकी कविता में उन तमाम सुविधाहीन, साधनहीन जनता की आवाज कैद है जो अपने स्वतंत्र अस्तित्व के निर्माण के लिए प्रयासरत हैं । अब अगर कोई यह सिद्ध करने लगे कि कबीर ने सिर्फ अपनी जाति के गठन के लिए अपने शब्दों का निर्माण किया तो यह कबीर के साथ ही नहीं साहित्य के साथ भी अन्याय होगा । जैसा कि डा. धर्मवीर मानते हैं कि कबीर ने मुसलमानों और हिन्दुओं द्वारा मारे जा रहे अपनी दलित जातियों की रक्षा के लिए इतिहास के चौराहे पर पुकार मचाई थी यह कबीर के जीवन का सिर्फ एक पक्ष है ।

कबीर के समय "हिंदू जनता जिस तरह जाति व्यवस्था के भेदभाव और धार्मिक कर्मकांड की चक्की में पिस रही थी उसी तरह मुस्लिम जनता इस्लाम की कट्टरता और कर्मकांड की चक्की में । इन दोनों के ऊपर राजसत्ता और शोषण का चक्र चल रहा था ।"[34] कबीर जैसे प्रगतिशील

कवि ने अपने समय के सच को देखा और निष्पक्ष भाव से अपने शब्दों के माध्यम से समाज को एक नई दिशा देने का प्रयास किया । उन्होंने निर्गुण भक्ति के माध्यम से एक ऐसे अमर देश की परिकल्पना की जिसमें लोग एक-दूसरे से इंसान की हैसियत से मिलें । कोई भी प्रगतिशील रचनाकार रचना के क्षणों में किसी जाति, वर्ण, वर्ग, भाषा विशेष का नहीं हुआ करता । वह निष्पक्ष भाव से अपने समय और समाज के नब्ज को टटोलता है । कबीर अपने अनुभव के आधार पर शब्दों का सृजन करते हैं और तर्कों के माध्यम से समाज को चुनौती देते हैं । कबीर अपने वर्तमान के प्रति पूर्णतः संसक्त चेतना वाले व्यक्ति थे उन्होंने जीवन और जगत के यथार्थ को खुली आँखों से देखा था । उनकी कविता भले ही प्रश्न करने वाली हो, कारण प्रश्नकर्ता के समक्ष माकूल उत्तर पाने की बेचैनी होती है । कबीर की कविता का चिंतन पक्ष सत्यान्वेषण चाहता है । कबीर भारतीय इतिहास में ही नहीं विश्व इतिहास में इसलिए प्रासंगिक बने हुए हैं, क्योंकि उनकी कविता में सार्वजनिन सत्य का निदर्शन हुआ है और समाज का बहुसंख्यक वर्ग उनके शब्दों से अपना तादात्म्य स्थापित कर सकता है ।

"अस्मितावादियों के अनुसार कबीर काव्य का अधिकारी वह नहीं हो सकता जिसे जुलाहे के दुःख की आत्मानुभूति न हो या जो दलित धर्म स्थापित करने के राजनीतिक प्रोजेक्ट से इंच मात्र भी असहमत हों ।"[35] कबीर की कविता को किसी धर्म विशेष या जाति विशेष की अभिव्यक्ति मानना असंगत है । नामवर सिंह कबीर को इस्लामी परम्परा का कवि मानते हुए उन्हें सूफी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं और अली सरदार जाफरी के चिंतन को कबीर के मूल्यांकन का नया आयाम सिद्ध करते हैं । अली सरदार जाफरी ने "कबीर वाणी" में लिखा है कि "मध्यकालीन दार्शनिकों और ईरानी सूफी शायरों की विचारधारा का प्रभाव"[36] कबीर के काव्य में है और उन्होंने यह भी लिखा है कि "कबीरदास एक मुसलमान सूफी थे जो

हिन्दू भक्ति की भाषा में बात कर रहे थे ।"[37] प्रोफेसर नामवर सिंह जाफरी के मूल्यांकन को महत्त्वपूर्ण मानते हुए लिखते हैं कि "कहने की आवश्यकता नहीं है कि तुलनात्मक साहित्य की दृष्टि से कबीर के अध्ययन का यह एक (अली सरदार जाफरी की पुस्तक "कबीर वाणी") महत्त्वपूर्ण और बहुत कुछ नया आयाम है । जरूरत है इस दिशा में गंभीर अनुसंधान की ।"[38]

कबीर के मूल्यांकन में नामवर सिंह की दृष्टि कुछ विरोधाभास उत्पन्न करती है । यह सही है कि कबीर पर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया जा सकता है । कबीर की प्रतिष्ठा हिन्दी साहित्य में कवि होने के नाते है, इसलिए उन पर विचार अन्ततः एक कवि के रूप में ही होना चाहिए । उनके काव्य में तत्कालीन समाज की जो नग्न सच्चाई अभिव्यक्त है, उसके केन्द्र में प्रेम और दुःख का अनन्य संभाव है । अगर हम उनके प्रेम को सूफी प्रभावापन्न और दुःख को उनके वर्गाधार तक सीमित कर दें तो उनकी भारतीयता ही नष्ट हो जाएगी । कबीर ने तत्कालीन प्रगतिशील विचारों को आत्मसात करके ही अपने मार्ग की सर्जना की थी । वे जिस काल में उपस्थित हैं उसमें बहुत-से आंतरिक विखंडनों के बावजूद प्रमुख रूप से हिंदू और मुस्लिम दो ही जातियाँ थी, जिनके बीच ऐतिहासिक और तात्कालिक कारणों से वैमनस्य और अपने में अड़े रहने की जिद्द थी । वहीं दूसरी ओर शोषित, पीड़ित, दस्तकार, कारीगरों आदि में वर्गीय चेतना का उन्मेष हो रहा था ।

कबीर ने बहुत पहले स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि समाज तथा राष्ट्र में अधिकतर विवाद अर्थव्यवस्था की असमानता से उपजते हैं । अपने काव्य में कबीर उत्पादक वर्ग के अनुभव सत्य को उद्घाटित करते हैं । वे "सोशल प्रोटेस्ट मूवमेंट" की बात करते हैं, एक समताशील समाज की बात करते हैं । सभी मनुष्यों की विचारधाराएं एक-सी हों यह उनका दिवास्वप्न था । हिंदी साहित्य में कबीर अकेले ऐसे कवि हैं जिनकी

जिन्दगी और कविता परिभाषा की पकड़ में नहीं आती । डा. धर्मवीर ने अपने "लक्ष्य समाज" के लिए जिस "कबीरीदर्पण" से कबीर को आर-पार देखने की कोशिश की है उस दर्पण में सिर्फ वे अपना चेहरा ही देख सके हैं कबीर का नहीं । नामवर सिंह की तरह कबीर के दुःख को उनके वर्गाधार तक सीमित करना भी मुनासिब नहीं है । कबीर ने अपने समय को भौतिक धरातल पर देखा था न कि आध्यात्मिक धरातल पर, भक्ति तो सिर्फ माध्यम थी ।

21वीं सदी के प्रथम चरण में प्रोफेसर मैनेजर पाण्डेय ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कबीर भोजपुरी के कवि थे । वे लिखते हैं कि "कबीर की मातृभाषा भोजपुरी थी । उनका जन्म काशी में हुआ था और देहान्त मगहर में । ये दोनों भोजपुरी क्षेत्र हैं, इसलिए कबीर की कविता मूलतः भोजपुरी की कविता है ।"[39] प्रोफेसर पाण्डेय ने कबीर के जन्म क्षेत्र को ध्यान में रखकर अपनी बातें कही हैं जिससे वर्तमान साहित्य जगत में एक नये विवाद का जन्म हुआ है । कबीर 15वीं सदी के आसपास मौजूद हैं । उस समय तक व्रज, अवधी, राजस्थानी, भोजपुरी, मैथली आदि भाषा पूर्णरूपेण अलग नहीं थी जैसी आज है । उनकी भाषा में अरबी, फारसी के शब्दों की भरमार है । उनके काव्य में बहुत कम ऐसी पंक्तियां मिलेंगी, जिनमें किसी एक बोली के रूप प्रयुक्त हुए हों । इसी आधार पर विद्वानों ने उनकी भाषा को पंचमेल खिचड़ी, सधुक्कड़ी आदि कहा तो किसी ने कबीर को वाणी के डिक्टेटर के विभूषण से अलंकृत किया है ।

कबीर ने कुछ लिखा नहीं बल्कि देशाटन करते हुए विभिन्न बोलीभाषी क्षेत्रों में श्रोताओं को कहा । यह संभव है कि स्थान व योग्यतानुसार लोगों ने उनके वाक्यों में अपने शब्द मिला लिए हों । उनकी मृत्यु के एक सती के पश्चात ही उनके पद मौखिक रूप से लिपिबद्ध किए गए और आज जो उनका काव्य मौजूद है स्पष्ट रूप से उसमें विभिन्न

भाषाओं का प्रयोग है । कबीर जैसे क्रांतिकारी व्यक्तित्व के लिए उनकी भाषा का एक ना होना कोई अचंभा नहीं है । जो शख्स संस्कृत जैसे कूपजल से निकलकर भाखा जैसे बहते नीर में अपनी स्वच्छता का आभास पाता हो उसकी काव्य भाषा में विभिन्न भाषाओं का सम्मिलन उचित ही है । वे सचमुच "वाणी के डिक्टेटर" थे । उन्होंने संस्कृत भाषा को दरकिनार कर जन भाषा को अपनाया इसलिए उनकी कविता अशिक्षित जनों की भाषा के माध्यम से अपना साहित्यिक इतिहास बनाती है । कबीर के काव्य की पांडुलिपियां पंजाब और राजस्थान में मिलीं इसलिए उस क्षेत्र की भाषाओं का प्रभाव कविताओं में अधिक है ।

भक्ति आन्दोलन एक प्रकार से संस्कृत के वर्चस्व को चुनौती देता हुआ क्षेत्रीय भाषाओं के उदय की कहानी भी गढ़ता है । मीरॉ बाई ने राजस्थानी में, सूरदास ने ब्रजभाषा में, जायसी और तुलसी ने अवधी में और कबीर ने "पूरबी" भाषा में अपने काव्य का सृजन किया । "पूरबी" से तात्पर्य भोजपुरी भाषा से ही है । मैनेजर पाण्डेय ने जिस विवाद को जन्म दिया है वह एक विशेष शोध की मांग करता है । जहॉ तक भाषा की अनगढ़ता का सवाल है वह कबीर जैसे युगान्तकारी कवि के क्रांतिकारी व्यक्तित्व का ही एक भाग है ।

कबीर की कविता न तो किसी धर्म विशेष को उपदेश देने वाली है, न किसी जाति विशेष की अस्मिता को उजागर करने वाली है । बल्कि कबीर की कविता संपूर्ण मानव जाति के लिए वैश्विक और सार्वभौम सत्य का उद्घाटन करती है ।

संदर्भ :

1. 21वीं सदी के कबीर डा. धर्मवीर (लेख) - श्यौराज सिंह बेचैन राष्ट्रीय सहारा, 5 नवम्बर, 1998, दिल्ली संस्करण
2. साभार, दलित विमर्श और हिन्दी आलोचना (लेख) - डा. धर्मवीर, राष्ट्रीय सहारा, 8 नवम्बर, 1998, दिल्ली संस्करण
3. वही, (लेख)
4. कबीर : नई सदी में, भाग-3,- डा. धर्मवीर, पृ. 66
5. वही, पृ. 65
6. कबीर के आलोचक - डा. धर्मवीर, पृ. 30
7. वही, पृ. 32
8. कसौटी, त्रैमासिक - सम्पादक नंद किशोर नवल, अप्रैल-जून 1999,
9. विवेकी सिंह, पृ. 103
9. कबीर : नई सदी में, भाग-3 - डा. धर्मवीर, समर्पण
10. कसौटी, त्रैमासिक - सम्पादक नंद किशोर नवल, प्रवेशांक, पृ. 108
11. कबीर : नई सदी में - डा. धर्मवीर, पृ. 23
12. वही, पृ. 64
13. कबीर के आलोचक - डा. धर्मवीर, पृ. 41
14. कबीर नई सदी में, भाग-3, डा. धर्मवीर, पृ. 29
15. शंभुनाथ, साभार, "वागर्थ" मार्च-अप्रैल 2000
16. कबीर नई सदी में, भाग-3 - डा. धर्मवीर, पृ. 46
17. वही, पृ. 36
18. वही, पृ. 47
19. वही, पृ. 47
20. कबीर और आज का समय - डा. मैनेजर पाण्डेय, आलोचना अप्रैल-जून 2000, पृ. 279

21. औपनिवेशिक संस्कृति और कबीर - सेवा सिंह, वागार्थ, मार्च-अप्रैल 2000, पृ. 39
22. वही, पृ. 40
23. साभार, कबीर नई सदी में, भाग-3, डा. धर्मवीर, पृ. 125
24. कबीर नई सदी में, भाग-3, डा. धर्मवीर, पृ. 67
25. वही, पृ. 109
26. वही, पृ. 82
27. वही, पृ. 38
28. साभार, वही, पृ. 125
29. कबीर के आलोचक डा. धर्मवीर, पृ. 96
30. साभार, 21वीं सदी के कबीर, डा. धर्मवीर (लेख) राष्ट्रीय सहारा 5 नवम्बर, 1998, दिल्ली संस्करण
31. वही
32. कबीर से मेरा नाता, पुरूषोत्तम अग्रवाल, पृ. 289, आलोचना अप्रैल-जून 2000
33. कबीर - हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रस्तावना अंश
34. कबीर और आज का समय - मैनेजर पाण्डेय, पृ. 275, आलोचना अप्रैल-जून 2000
35. कबीर से मेरा नाता - पुरूषोत्तम अग्रवाल, पृ. 284, आलोचना अप्रैल-जून 2000
36. कबीर वाणी - अली सरदार जाफरी, पृ. 16
37. वही, पृ. 16
38. कबीर को भगवा - नामवर सिंह, पृ. 313, आलोचना अप्रैल-जून 2000
39. कबीर और आज का समय - मैनेजर पाण्डेय, पृ. 280, आलोचना अप्रैल-जून 2000

****

अध्याय - 4

कबीर की कविता और उनकी अस्मिता

"हदे छाड़ि बेहदि गया, हुआ निरंतर बास"

लगभग छः सौ साल पहले के समाज में एक ऐसे व्यक्ति की उपस्थिति जो अपने शब्दों के माध्यम से समाज की संपूर्ण चेतना को झकझोर रहा हो, आज सर्वाधिक प्रासंगिक इसलिए है कि वह व्यक्ति नहीं एक दृष्टि है, एक बोध है । मौन काल-प्रस्तरों पर उत्कीर्ण, क्रांति की चिंगारियों और इन्सानियत की ख़ुशबू से लिखा यह नाम - "कबीर" - जो आज हमारे सबसे बड़े थाती का प्रतिदर्श है, काफी कोशिशों के बावजूद भी मिटाया नहीं जा सकता । "आज के परिप्रेक्ष्य में वे न केवल भारत के लिए अपितु संपूर्ण विश्व के लिए प्रासंगिक हैं ।"[1] एक ऐसी चेतना के निर्माण का प्रयास जिससे मानव-धर्म व मानव-समाज की परिकल्पना की गई थी उनके काव्य से व्यंजित होती है और यही वह प्रमुख वजह है कि विश्व-समुदाय कबीर की संवेदना से अपना तादात्म्य स्थापित करने के लिए उनके सूलगते शब्दों की ओर आकर्षित होता रहा है । कबीर ने ठीक ही लिखा था कि - "हक न मरै मरिहै संसार" - कबीर आज भी जिन्दा है और तब तक हमारे बीच मौजूद रहेंगे जब तक इस जगत पर जीव का अस्तित्व मौजूद रहेगा । वर्तमान समय उनके शब्दों के माध्यम से अपने आप को समझ सके, यह कबीर की अप्रतिम महानता है । कबीर के युग से लेकर वर्तमान समय का समाज अपनी सुविधानुसार कबीर के शब्दों से नए नए अर्थ ग्रहण करता रहा है, जो उनके होने या उन्हें महसूस करने का जीवंत प्रमाण है ।

समाज में कबीर की पहचान विभिन्न रूपों में उभर कर आती है, कबीर धर्मसुधारक थे, कबीर हिन्दू-मुस्लिम एक्य के विधायक थे, कबीर संत थे, कबीर नेता थे, कबीर रहस्यवादी कवि थे, कबीर दलित धर्म के भगवान थे, कबीर अपनी जाति के मसीहा थे आदि आदि । हिन्दी साहित्य में कबीर का महत्व उनके कवि होने के कारण है पर अधिकांश हिंदी विद्वानों

ने कबीर को समझने के लिए मध्यकालीन परिस्थितियों को केन्द्र में रखा उनके काव्य को नहीं । इसलिए कबीर को लेकर छिड़ी बहसों में उनका कवित्व प्रायः अलक्षित रह गया, जो कबीर को बौद्धिक चर्चा में शामिल करने का मुख्य आधार है ।

"एक ऐसा कवि .... जो न बाल्मीकि और व्यास की तरह सृष्टा है और न कालिदास और सूरदास की तरह कलाकार । वह अपने समय के सच को देखता है और उसकी भावी संभावनाओं को भी और उसी देखे हुए की कविता लिखता है । ... भारतीय कविता के इतिहास में अपने ढंग का पहला और संभवतः अकेला ऐसा कवि है जो कवि होने और बनने की पहले से बनी बनाई किसी भी शर्त को नहीं मानता ।"[2] परम्परा से विद्रोह और नई व स्वच्छ परंपरा के निर्मित का उद्घोषक कबीर अगर बहुत सारे साहित्य चिंतकों के कोपभाजन व पूर्वाग्रहों के शिकार हुए तो यह अपवाद नहीं । समाज की विकासवान अवस्था से लेकर वर्तमान समय तक वर्चस्व वर्ग ने अपनी स्वार्थ साधना के लिए उदीयमान हर संभव प्रतिभा को कुचलने का प्रयास अनवरत जारी रखा है । परंपरा से विद्रोह कबीर के स्वर का प्रस्थान बिन्दु है और अभीष्ट है एक स्वच्छ समाज का निर्माण ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की ऐतिहासिक दृष्टि (साहित्य के संदर्भ में) बहुतों के लिए एक आदर्श की स्थिति हो सकती है पर यथार्थ से सीधे साक्षात्कार कतई नहीं कर सकती । पूर्वाग्रही चिंतन के आलोक में उन्होनें "लोकविद्वेषी" कबीर को देश निकाले की सजा देकर "लोकरक्षक" तुलसी को स्थापित करने का हरसंभव प्रयास किया है । जबकि तुलसी ने एक ऐसे राम की पुनर्स्थापना की थी जिससे अधिक उपयुक्त राम किसी भ्रष्ट और अन्यायी समाज के लिए गढ़ा ही नहीं जा सकता ।"[3] शुक्ल जी जब कबीर की भक्ति-विषयक मान्यताओं के प्रति ही आश्वस्त नहीं थे तब उनके सामने कबीर की रचना में "साहित्यिकता का सर्वथा अभाव" दृष्टिगोचर होना

स्वाभाविक ही था । श्याम सुन्दर दास का भी मानना है कि "उनकी आधी से अधिक रचना दार्शनिक पद्य मात्र है, जिसको कविता नहीं कहना चाहिए ।"[4] पूरे मध्यकाल में कविता के लिए कविता तो किसी ने नहीं की थी और सिवाय जायसी के अपने आप को "कवि" किसी ने भी नहीं कहा है । तब सूर, तुलसी आदि भक्त कवि होने की हैसियत रखते हैं पर कबीर नहीं । सवाल यह भी है कि क्या साहित्य-चिंतक अपनी रचना में दर्शन विशेष को जगह नहीं दे सकता, क्या "धर्म" समाज का अंग नहीं है ?

वस्तुतः शुक्ल जी कबीर की अक्खड़ता को उनके "ज्ञानीपन की शुष्कता का प्रतिबिंब मानते हुए कहते हैं कि - "न उनकी भाषा परिमार्जित है और न उनके ग्रंथ पिंगलशास्त्र के नियम के अनुकूल हैं ।" परंपरा का अनुपालन कबीर के शख्सियत के खिलाफ था, क्योंकि उनके अंदर अनन्त का तेज था । वे परंपरा के निर्वाह के कायल नहीं थे, उनका स्पष्ट मंतव्य था कि किसी के पद-चिह्नों पर अंधानुकरण मत करो बल्कि राह अपनी स्वयं निर्मित करो -

"कबीर इस संसार कौ, समझाऊँ कै बार ।
पूंछ जो पकड़ै भेड़ की उतरया चाहै पार ।।"

कबीर भेड़ की भीड़ में शामिल नहीं हुए और यही विस्फोटक सच्चाई आचार्य शुक्ल को नागवार गुजरी । कबीर के आगमन को मध्य-कालीन इतिहास का काला अध्याय मानकर वे लिखते हैं कि - "भक्ति का यह विकृत रूप §वेदशास्त्रों की निन्दा करना, पंडितों को गालियां देना और उच्च धर्म के सामाजिक तत्त्वों को न समझकर लोगों में वर्णाश्रम के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करना§ जिस समय उत्तर भारत में अपना स्थान जमा रहा था उसी समय भक्तवर गोस्वामी जी का अवतार हुआ, जिन्होंने वर्णधर्म, आश्रमधर्म कुलाचार, वेदविहित कर्म, शास्त्र प्रतिपादित ज्ञान इत्यादि सबके साथ भक्ति का पुनः सामंजस्य स्थापित करके आर्य धर्म को छिन्न-भिन्न होने से बचाया ।[5]

आचार्य शुक्ल के लिए तुलसी आर्य धर्म की प्रतिष्ठा के लिए अवतीर्ण हुए थे, क्योंकि "कबीर" शैतान की भूमिका में मनुष्य को कुमार्ग की ओर ले जा रहा था । इसलिए आचार्य शुक्ल का पूर्वाग्रही चिंतन मध्यकालीन भक्ति के स्वरूप की व्याख्या के क्रम में अतीत के उन संस्कृत ग्रंथों की पक्ष-धरता का आभास देता है जिन ग्रन्थों ने मानव-समुदाय को धर्म, कर्म, श्रम, भ्रम, मर्म आदि सभी रूपों में बाँट-बाँटकर समाज को विखंडित करने का प्रयास आज तक जारी रखा है ।

कबीर को सिर्फ "आर्य धर्म" की चिन्ता नहीं थी, बल्कि संपूर्ण मानव धर्म की चिन्ता थी । शास्त्र की कसौटी पर परखें तो पूरा मध्यकाल विभिन्न धर्मों का चौराहा प्रतीत होता है । कबीर के समय बौद्ध, जैन, नाथ, तथाकथित "हिन्दू" आदि कई संस्कृतियां विद्यमान थीं साथ ही इस्लामी संस्कृति से इन संस्कृतियों का कई स्तरों पर आकर्षण और कुछेक स्तरों पर विकर्षण का भाव व्याप्त था । इन संस्कृतियों की अपनी अलग-अलग धार्मिक मान्यताएं थीं और विभिन्न धार्मिक मान्यताओं के बीच कटुता का भाव व्याप्त होना स्वाभाविक ही था । सभी धर्म अपनी श्रेष्ठता का दावा करते थे, फलतः मनुष्य-मनुष्य के बीच दूरियाँ बढ़ती जा रही थी । "उत्तर दक्षिण के पंडिता, कहै बिचारि बिचारि" - यह मध्यकालीन समाज का धार्मिक सत्य है । समाज में कुछ ऐसे वर्ग भी मौजूद थे जिनसे धार्मिक स्वतंत्रताएँ प्रभु वर्गों द्वारा छीन ली गई थी ।

कबीर ने अपने युग के इस यथार्थ को अपनी खुली आँखों से देखा था और अपने अनुभव के आधार पर एक ऐसे निर्गुण निराकार ईश्वर की कल्पना की थी, जिसकी भक्ति समाज के सभी लोग प्रेमभाव से कर सकें । वे शास्त्र द्वारा अनुमोदित भक्ति पद्धति का तिरस्कार करते हैं, क्योंकि वह भक्ति "व्यक्तिवाद" को जन्म देने वाली थी ।

"पंडित मुल्ला जो लिखि दिया । छाड़ि चले हम कुछु न लिया ।"

"वेद न जॉनूँ भेद न जानूँ, जानूँ एकहि रॉमॉ ।"

ऐसा नहीं है कि कबीर सभी मतों के विचारों का पूर्णतः खंडन ही करते हैं, बल्कि वे विभिन्न मतों के प्रगतिशील मूल्यों को हृदयंगम कर एक निरपेक्ष दृष्टि की प्रतिस्थापना करते हैं । वे सिर्फ एक ईश्वर के विश्वासी थे जो संपूर्ण जीव की उत्पत्ति का एकमात्र नियंता है ।

"पाठ पुरान वेद नहीं स्मृत, तहाँ बसै निरंकारा ।"
"पूजा करूँ न निमाज गुजारूँ एक निराकार हिरदै नमसकारूँ ।"

वे उस निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए प्रेमभाव का आधार प्रस्तुत करते हैं -

"प्रेम न खेतौं नीपजे, प्रेम न हाटि बिकाइ ।
राजा परजा जिस रचै, सिर दे सो ले जाई ।।"

कबीर की प्रेम-विषयक मान्यताएँ सूफियों से बिल्कुल भिन्न हैं । वे अपने माशूक के लिए सिर पर कफन नहीं बाँधे फिरते हैं और न ही उनका चिंतन "इश्क मिजाजी" से "इश्क-हकीकी" की ओर का सफर है । बिना किसी बाह्याचार के मनुष्य अपने हृदय में उस ईश्वर को महसूस कर सकता है । कबीर "एक साहिब" की अवधारणा के लिए जिस निर्गुण निराकार राम की कल्पना की थी वह सर्वव्यापी है -

"जोगी गोरख गोरख करै, हिंदू राम नाम उचरै ।
मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीर कौ स्वामी घटि घटि रहयो ।"

कण-कण में व्याप्त निर्गुण निराकार ईश्वर की कल्पना कर कबीर ने समाज के सभी वर्गों के लिए मानसिक शांति का मार्ग प्रशस्त किया । वे अखिल मानववाद के समर्थक थे इसलिए उनकी कविता में जहाँ एक ओर शासितों के विरुद्ध विद्रोह का स्वर व्याप्त है, वहीं दूसरी ओर शोषितों के प्रति पूर्ण सहानुभूति का भाव । "कोई भी भाव या विचार व्यापक लोकस्वीकृति तभी प्राप्त कर सकता है, जबकि वह जनता के बड़े अंश की वैचारिक एवं

भावात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करे ।"[6] कबीर ने अपनी कविता के माध्यम से सिर्फ निम्न श्रेणी की जनता में आत्मभाव नहीं जगाया, बल्कि समूचे मनुष्य जाति की सोच प्रक्रिया को आन्दोलित किया ताकि मनुष्य विचारमंथन के पश्चात प्रगतिशील मूल्यों का संवाहक बन सके । पूरे मध्य-काल का कोई भी साहित्यिक पुरूष आज विश्वपटल पर अपनी छाप छोड़ने में कामयाब नहीं हो सका क्योंकि उनके मूल्य प्रगतिशील नहीं है । कबीर अकेले ऐसे हैं जिन्होंने विश्वसमुदाय को अपनी ओर आकर्षित किया, क्योंकि उनकी कविता में हर मनुष्य अपनी अस्मिता को सुरक्षित पाता है । कबीर कवि ही नहीं विश्व कवि होने की हैसियत रखते हैं । गलत को गलत कह सकने की हिम्मत रखने वाला इंसान ही सत्य से साक्षात्कार करवा सकता है । कबीर अपनी बात निःशंक भाव से कहते रहे और इस बात की उन्हें कतई परवाह नहीं थी कि कौन उनके शब्दों से खिलवाड़ करेगा और कौन उन्हें अपने हक में इस्तेमाल करेगा ।

कबीर की कविता में उनकी जातीय अस्मिता के उदाहरण भरे पड़े हैं । वे जुलाहा जाति के थे, जो वर्ग-विभेद समाज में नीची, कमीनी कही जाती थी । पर उनकी कविता में अपनी जाति के लिए गर्व का भाव व्याप्त है । काशी जैसे पंडितों की नगरी में रहने वाला कोई निम्न जाति का व्यक्ति अपनी पहचान को महफूज रखने के लिए अगर चैलेंज करता है कि - "तू ब्राह्मण में कासी का जुलाहा बूझहू मोर गियानै ।" तो उसके आत्म-विश्वास और साहस को दाद देना पड़ेगा । अपनी श्रेष्ठता का दंभ वे नहीं भरते, क्योंकि वे मानते थे कि मनुष्य अपने जन्म से नहीं कर्म से श्रेष्ठ होता है । तभी तो वे कहते हैं कि -

"बेद पुरान सबै मत सुनि के करीं करम की आसा ।"

कबीर ने भक्ति को शास्त्र के बंधन से ही मुक्त करने का प्रयास नहीं किया, बल्कि उन सभी बंधनों को जो मनुष्य जाति के लिए अहितकर हो

तोड़ने का प्रयास किया ।

- "कबीर मेरी जाति कौ सब कोई हँसनेहारू" - फिर भी कबीर को पूर्ण विश्वास था कि "जग जीते जाई जुलाहा ।" क्योंकि कबीर मानते थे कि - "कबीर कुल तौ सो भला, जिह कुल उपजै दास ।
जिहि कुल दास न उपजै, सो कुल आक पलास ।।"

जब "सबै जीव साँई के प्यारे" हैं तो मनुष्य मनुष्य में भेद क्यों ? कबीर सभी मनुष्यों को समान समझने वाले व्यक्ति थे, इसलिए समाज से पूछते हैं -

"ऐसा भेद बिगूचन भारी ।
बेद कतेब दीन अरू दुनियाँ, कौन पुरिष कौन नारी ।।
एक बूँद एके मल मूतर, एक चाँम एक गूदा ।
एक ज्योति थैं सब उतपनाँ, कौन बाँम्हन कौन सूदा ।।"

कबीर के समय समाज में अस्पृश्यता, छुआछूत आदि का प्रसार धार्मिक मर्यादा के नाम पर व्याप्त था । कबीर के काव्य में तमाम संकीर्ण सामाजिक भावना का तिरष्कार है । जाति, धर्म, वर्ण आदि के नाम पर विभक्त समाज और उस समाज में व्याप्त तमाम बुराईयों के खिलाफ कबीर का काव्य एक "तीखा अस्त्र" है । यूँ तो कबीर का समाज धर्म के अनुसार विभिन्न मतमतांतरों में बँटा हुआ था, फिर भी प्रमुख रूप से दो ही धर्म हिन्दू और मुसलमान थे । विभिन्न मतों के अनुयायियों के बीच आपसी वैमनस्य व साम्प्रदायिक टकराव विद्यमान था । - "कबीर साइ पीर है जो जाने पर पीर -" आत्म का अन्य के साथ संवाद करने वाला प्रखर व्यक्तित्व व दूसरों के दर्द को अपना समझने वाला विद्रोही स्वर चुपचाप समाज को अंधे कुएँ में गिरता नहीं देख सकता । इसलिए वे धर्म के व्यक्तिगत मामलों पर मर्मभेदी चोट करते हैं -

"जे तूँ बाँभन बम्भनी जाया, तो आँन बाँट ह्वै काहे न आया ।
जे तूँ तुरक तुरकनी जाया, तौ भीतरि खतना क्यूँ न कराया ।।"

पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत आदि बाह्याचारों में मनुष्य मग्न था, जिसकी व्यर्थता बतलाते हुए कबीर ने धर्म के ठेकेदारों व मार्ग-विमुख जनता को काफी आवेशपूर्ण लहजे में फटकारा । इस अक्खड़ता को बहुत सारे विद्वानों ने कबीर का स्वभाव मान लिया है जबकि इसका कारण उनकी परिस्थिति जन्य विवशता थी । गलत आचरणों के प्रति उनके मुख से निकले कठोर शब्द से उनके आक्रोश का पता नहीं चलता बल्कि यह उनके विद्रोही चेतना का प्रारूप है । क्योंकि आक्रोश का अंत क्रोध में होता है जबकि विद्रोह का अंत क्रांति में ।

- पाहन पूजे हरि मिलै तो मैं पूजूं पहाड़ - या
- ता चढि मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय -

ये कबीर काव्य के सूक्त वाक्य हैं जिनसे उनके मंतव्य को बल मिलता है । वे धर्म और मत मतान्तरों से दूर रहने वाले इंसान थे । उनका मानना था कि राग-द्वेष और विषय-वासनाओं से अलग होकर ईश्वर को अपने हृदय में महसूस करने वाला और साधुजनों (अच्छे चरित्र के व्यक्तियों) की संगत में रहने वाला व्यक्ति ही श्रेष्ठ है । इसके लिए धर्म, वर्ग, वर्ण, मत आदि कुछ भी बाधक नहीं है । कबीर के लिए सिर्फ मनुष्य ही नहीं सभी जीवों के प्रति सहानुभूति थी और वे जीव हत्या को घोर अपराध मानते थे । यथोचित मानवीय गुणों से सम्पृक्त चरित्र को वे समाज के लिए आवश्यक मानते थे ।

कबीर का व्यक्तित्व आत्मविश्वास से पूर्ण था, वे निडर और साहसी थे - "जो डर डरै तो फिर डर लागै, निडर होइ तो डरि डर भागै ।" - एक सच्चे मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण में जिन-जिन सहायक तत्वों की जरूरत है, उन सभी तत्वों का बारीकी से खोजबीन उनके काव्य में निहित है ।

"काहे रे मन दस दिस धावै ।
विषिया संगि संतोष न पावै ।"

"मारग छाड़ि कुमारग जोवै, आपण मरै और कू रोवै ।"

"कबीर गरबु न कीजियै, रंकु न हूसिवै कोइ ।"
"मनहु न कीजै झूठी आस ।"
"कौड़ी कौड़ी जारि कै जोरे लाख करोरि ।
चलती बार न कछु मिल्यो लाई लंगोटी छोरी ।"
"संपत्ति देखि न हरषिये, विपति देख न रोइ ।"
"काँम क्रोध दोऊ भये विकारा आपहि आप जरे संसारा ।"

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में मनुष्यता के मूल भाव समायोजित हैं । जब मनुष्य का मन विषय-वासनाओं में आकंड डूब जाता है, तब उसका चित्त अपने लक्ष्य से विमुख होकर भटकने लगता है । जो इंसान कुमार्ग की ओर उन्मुख है वह लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता और इसकी सजा सिर्फ उसे ही भुगतनी है क्योंकि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है । निर्धनों की दशा पर मजाक नहीं करना चाहिए और न अपने मन में किसी भी प्रकार की आशा रखनी चाहिए । झूठी आशा मनुष्य को कर्म क्षेत्र से विमुख करती है । इंसान लाख दौलत कमा ले पर मृत्युपरांत कुछ भी साथ नहीं जाता । इसलिए सुख-समृद्धि पर हर्षित होना अभिमानी का परिचायक और अपनी विपत्ति या दुःख दारिद्रय पर आँसू बहाना कायर व बुजदीली की निशानी है । कबीर ने मानव स्वभाव के हर क्षण विशेष को अपने काव्य का विषय बनाया । वे अपने समय के सामाजिक यथार्थ से सीधे रू-ब-रू थे और प्रगतिशील मूल्यों के संवाहक बने सत्य की खोज में बेचैन । वे संसार के लिए रोते और विलाप करते रहे, क्योंकि उनकी चिंता वैयक्तिक न होकर सारे विश्व की थी -

"सुखिया सब संसार है खावै अरू सोवै ।
दुखिया दास कबीर है जागे अरू रोवै ।।"

"कबीर अपने समय से कई स्तरों पर विक्षुब्ध हैं और उनकी यातना एक मर्मी कवि की यातना है, ज्यादा गहरी ।"[7] वे अपने समाज को दुःख की आग में जलता हुआ देख रहे थे - "सब तन जलता देख करि भया कबीर उदास" - वे अपने अनुभवजन्य ज्ञान और आँखिन देखी के आधार पर समाज

का विश्लेषण कर रहे थे ।

"कबीर कलि खोटी भई, मुनिवर मिलै न कोई ।
लालच लोभी मसकरा, तिनकूँ आदर होइ ।।"

"झूठे कौं झूठा मिलै, दूणाँ बंधै सनेह ।
झूठे कूँ साचा मिलै, तब ही टूटे नेह ।।"

यह कबीर के समय का नग्न यथार्थ है । फिर भी कबीर ने इस यथार्थ का सच्चाई के साथ सामना किया क्योंकि "कबीर औगुँणा ना गहै गुण ही कौ ले बीनि" - और एक स्वच्छ समाज के निर्माण के लिए आवाज बुलंद किया, जिसमें सभी मनुष्य एक दूसरे मनुष्य से मनुष्य की हैसियत से मिल सकें । "कबीर ने जिस "आध्यात्मिक देश की परिकल्पना की वह उच्चतर मूल्यचिंता, मानव मूल्यों का संसार है जिस तक पहुँचना किसी सार्थक कवि का दिवास्वप्न होना है ।"[8]

कबीर धर्मगुरू या समाज सुधारक नहीं थे । वे समाज के स्वाभाविक चिंता के पुरूष थे । समाज के लिए कल्याणकारी तत्वों काअनुसंधान और विनासकारी तत्वों का सर्वनाश उनका ध्येय था । वे जुलाहा जाति के थे और कपड़ा बुनकर बेचना उनका व्यवसाय था । उस समय भी जुलाहा सामाजिक धरातल पर निम्न ही समझा जाता था । फिर भी अपनी जाति ही नहीं समूचे शोषितों के लिए उनके काव्य में गर्व का भाव व्याप्त है । वे सिर्फ कर्म को महान मानते थे । भले ही उनके काव्य में अपनी जाति अस्मिता के दुख का स्वर खुलकर सामने आता है, लेकिन उनका दु:ख उनके वर्गाधार तक ही सीमित नहीं है -

"ना मोहि छानि न छापरी ना मोहि घर नहीं गाऊँ ।
मति हरि पूछे कौन हैं मेरे जाति न नाऊँ ।।"

कबीर वैयक्तिक अस्मिता के कायल नहीं थे वे समूचे मानव जाति के हितैषी थे । उन्होंने कहा है कि "माटी के हम पूतरे मानस राख्यो थाऊँ -"

वे किसी भी प्रकार के भेदभाव से रहित थे और अपने आप को सिर्फ मनुष्य स्वीकार करने के पक्षपाती थे । उनके काव्य में मनुवादी वर्णव्यवस्था के खिलाफ विद्रोह का भाव है लेकिन इसी आधार पर वे दलितों के भगवान सिद्ध नहीं किए जा सकते । उन्हें भगवान सिद्ध करने का प्रयास तो उनके जमाने से ही कबीरपंथियों ने कर रखा है । शायद कबीरपंथियों ने उनके काव्य के साथ सबसे ज्यादा खिलवाड़ किया है, तभी तो संत विवेकदास को यह कहना पड़ा "कबीर साहब एक धर्म, एक ईश्वर, एक समाज के पक्षधर थे और आज उनके नाम पर ही अलग-अलग ईश्वर, अनेक धर्म तथा अनेकता और विखंडता फैलाई जा रही है । उनके नाम पर पंथ और उपपंथ बन रहे हैं - पंडित, मुल्ला, पोप-पादरी के समान ही कबीरपंथ में भी अब लोग आचार्य, हुजूर, सद्गुरू, गुरू और महंत जैसे पदवी से विभूषित होते हैं । ... कबीरपंथ में अब कबीर साहब तो कम दीखते हैं गुरू सद्गुरू, महंत, हुजूर और आचार्य का ही बोलबाला है ।"[9]

यह समस्या अब साहित्य में भी प्रचलित हो चुकी है । "सूद्र मलेछ बसै मन माँही" - कहने वाला कबीर वस्तुतः उस सत्य का दर्शन करता है जिसमें उनकी वैश्विक छवि उभर कर सामने आए । शूद्रों की चेतना को विकसित करना उनका ध्येय नहीं था, बल्कि उस भ्रष्ट व्यवस्था-तंत्र से जो मानव-मानव में भेद करे उनसे टकराना था । अपनी "अथक आलोचनात्मक चेतना" से वे व्यवस्था से बार-बार प्रश्न करते हैं और - "कबीर की कविता में प्रश्न करने की यह प्रवृत्ति अपने समय के समाज को नए ढंग से देखने और बदलने की इच्छा से जुड़ी हुई है ।"[10]

"डाली डाली मैं फिरौं पातौ पातौ दुःख" - या
"दुख संताप कलेस बाहु पावै, सो न मिलै जो जरत बुझावै " -

ये पंक्तियां कबीर के जीवन की सिर्फ सच्चाई नहीं, वरन उस समाज के बहुसंख्यक वर्ग की विडंबनापूर्ण स्थिति का यथार्थ अवलोकन है, जिस समाज में कबीर सांस ले रहे थे । कर्म क्षेत्र में तल्लीन वे दुःखपूर्ण स्थितियों से घबराए

नहीं, बल्कि अपने हाथों में जलती मशाल लिए "आठ पहर का दासणाँ," से मुक्ति के लिए शब्दों का तूलगता गुलमोहर सजाते रहे । वे समाज के किसी विशेष वर्ग के नहीं पूरे समाज के "बेहद फिक्रमंद मसीहा" थे ।

नामवर सिंह का मानना है कि - "कबीर का संपूर्ण काव्य एक विराट नकार का काव्य है । ... जिस समाज ने कबीर को तिरष्कृत और बहिष्कृत किया उसे कबीर ने यदि पूरे का पूरा नकार दिया तो कुछ गलत नहीं किया । समाज में जगह नहीं तो समाज के लिए जगह नहीं । हिसाब किताब बराबर ।"[11] पर कबीर का काव्य "नकार का काव्य" नहीं है । उनके काव्य से जो विस्फोटक सच्चाई व्यक्त होती है, उसमें समाज से प्रति-द्वन्द्विता का भाव नहीं है, बल्कि उस व्यवस्था-तंत्र से विरोध है (चाहे वह किसी भी वर्ग द्वारा नियोजित हो) जो मनुष्य का मनुष्य बने रहने की सीख नहीं देता । वे हिसाब-किताब बराबर करने नहीं चले थे बल्कि अपना घर जलाकर भी प्रेम की सीख समाज को दे रहे थे । कबीर का संघर्ष लूथर के संघर्ष से कहीं बड़ा और कठिन था । लूथर के सामने शास्त्रों की पुरानी और मूल-बद्ध परंपरा नहीं थी, उन्हें तो पोप की सत्ता से जूझना था, जबकि कबीर को कई मोर्चों पर जूझना था और इसके लिए समाज में प्रत्यक्ष उपस्थिति उनके लिए आवश्यक थी । इसलिए वे समाज को नकार के नहीं बल्कि स्वीकार कर ही अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख हुए । उनका काव्य ही नहीं उनका जीवन भी बारंबार समाज की मूलबद्ध परंपरा से टकराता हुआ अपना मार्ग ज्ञान की आँखें और अनुभव के आधार पर सुनिश्चित करती हैं । अपने जीवन के अंतिम क्षणों में भी वे किसी प्रकार का समझौता नहीं किए -

"सकल जनम शिवपुरी गवाया, मरती बार मगहर उठि आया ।"
"जैसा मगहर तैसी कासी हम एकै करि जानि ।"

कबीर का जन्म और कर्मक्षेत्र "काशी" जो आज भी पंडितों की नगरी मानी जाती है और ऐसा माना जाता है कि काशी की धरती पर मृत्यु पाने वाला सीधे स्वर्ग का अधिकारी होता है, ऐसे मिथक को तोड़ने का

साहस कबीर जैसा क्रांतिकारी व्यक्ति ही कर सकता था । कबीर की मानवीय चेतना कभी भी मिथकीय-सत्य के अन्वेषण में जाया नहीं हुई । वे मानते थे कि "जस कासी तस मगहर ऊसर" - अगर नरक मगहर में मरने पर मिले तो और स्वर्ग काशी में तो मैं मगहर में ही मरूँगा । ईश्वरीय प्रेम उनके हृदय में कूट कूट कर भरा हुआ था पर वे सिर्फ फैंटेसी में जीने वाले व्यक्ति नहीं थे, उन्हें तो अपने मानव धर्म और कर्म पर विश्वास था । तभी तो वे कहते हैं कि -

"चलन चलन सब को कहत है ।
नाँ जाँनों बैकुंठ कहाँ है ।"

यह प्रश्नाकुलता उनके काव्य में सर्वत्र विद्यमान है और उनके काव्य का सबसे सबल पक्ष यह है कि - "ऊपर की मोहि बात न भावै, देखै गावै तौ सुख पावै ।" अपने अनुभवजन्य ज्ञान से सत्य का उद्घाटन करने वाला किसी "पोथी" या शास्त्र का मोहताज नहीं होता । उन्हें किसी सहारे की जरूरत नहीं थी, जरूरत थी तो सिर्फ बेसहारों की आत्मनिर्भरता में हुई कमी की खोज, उस मार्ग की खोज जिस मार्ग पर सभी मनुष्य एक साथ और साथ-साथ चलें । इसलिए तो "मनुष्यता के मूल भावों को व्यक्त करने वाली कबीर की कविता आज भी प्रासंगिक है ।"[12]

ऐसा कवि जो अपना जीवन और काव्य समाज को समर्पित कर दिया, उसे उपदेशक या धर्मगुरू कहना साहित्य के लिए नुकसानदेह ही होगा । अबुल फजल ने अपने इतिहास ग्रंथ "आइने अकबरी" में संवत 1655 में ही यह स्पष्ट घोषणा की थी कि - "कबीर हिन्दी के कवि थे ।"[13] अगर आज हम कबीर का मूल्यांकन "हिन्दी के कवि" के रूप में न करके "विश्व कवि" के रूप में करें तभी कबीर की कविता के साथ-साथ विश्व-साहित्य की गरिमा बरकरार रह पाएगी ।

"कबीर धर्मगुरू थे । इसलिए उनकी वाणियों का आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिए -"[14] द्विवेदी जी का यह कथन उनकी ऐतिहासिक दृष्टि की एक सीमा है । हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर को रहस्य के आवरण से निकालकर क्रांतिकारी व्यक्तित्व प्रदान करने का स्तुत्य प्रयास किया है, पर वे कबीर के काव्यत्व के प्रति आश्वस्त नहीं थे । वे लिखते हैं कि - "कबीर ने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नहीं कही थी । ... काव्यगत रूढ़ियों के न तो वे जानकार थे और न कायल ।[15] वस्तुत: कबीर जिस मध्यकाल में उपस्थित हैं, वहाँ बहुत सी चुनौतियाँ थीं । प्रमुख प्रश्न कविता के सांस्कृतिक और सामाजिक दायित्व के निर्वाह का था, जो वर्तमान समय में भी उपस्थित है । ऐसे हालात में रचना कर्म अभिव्यक्ति के शिल्प का विषय नहीं रह जाता, वहाँ संवेदना प्रमुख है । उनका लक्ष्य कला का चमत्कार न होकर अपने शब्दों को जनगन तक पहुँचाना था ।

"किसी शास्त्रीय परंपरा के अनुसार कविता करना उनका लक्ष्य नहीं था । उनकी रचनाओं में न तो व्याकरण का कोई नियंत्रण है और न छन्द के नियमों का निर्वाह ही हो सका है । कबीर को किसी रस और अलंकार की भी आवश्यकता नहीं थी । इसका कारण यह है कि कविता करने में कबीर का लक्ष्य न तो यश की प्राप्ति थी और न काव्य के माध्यम द्वारा वे अर्थोपार्जन ही करना चाहते थे । ... उनकी दृष्टि में कविता का लक्ष्य मानव-कल्याण था । वे जीवनभर सामाजिक समस्याओं से जूझते रहे और सामाजिक प्रगति के लिए सदा निरपेक्ष सत्य की अभिव्यक्ति करते रहे ।"[16]

"ऐसी बाँणी बोलिये, मन का आपा खोइ ।
अपना तन सीतल करै, औरन कौं सुख होइ ।।" -

ऐसे "वाणी के डिक्टेटर" की भाषा अगर किसी को "पंचमेल खिचड़ी", सधुक्कड़ी, अक्खड़ आदि लगे तो यह कबीर की समस्या नहीं है । "साँच कहूँ तौ मारण धावै, झूठे जग पतियाई" - ऐसे समाज को कड़वी सच्चाई थोड़ी देर के लिये भले ही अक्खड़ लगे, अन्तत: उस सच्चाई में अनन्त

सूख का भाव व्याप्त है । कबीर जैसे विद्रोही तेवर के सामने भाषा इसलिए लाचार सी दिखती है, क्योंकि वे जनकवि थे, और जन भाषाओं का प्रयोग अपने वाणियों में उन्होंने किया वो भी बिना काव्यशास्त्रीय-परंपरा के । "संसा कित है कूप जब भारवा बहता नीर" - उनके काव्य प्रवाह में विभिन्न भाषाओं का सम्मिलन उनके निरंतर गतिशील बने रहने का प्रमाण है । न वे रूके और न उनकी काव्य-सरिता कभी अवरूद्ध हुई । उन्होंने संस्कृत जैसे देव-वाणी की अपेक्षा लोकवाणी को प्रश्रय दिया और यही वजह है कि कबीर के वाणी का प्रसार सरहदों का मुँहताज नहीं रहा । वे किसी भी भाषा-विशेष के कवि नहीं, सिर्फ कवि हैं और विश्व कवि होने की योग्यता रखते हैं । कबीर के काव्य में प्रयुक्त जन भाषा तत्कालीन समाज के लोगों की उस दशा का आभास प्रस्तुत करती है जो - "सामंती सीमाओं में भी अभिव्यक्ति का माध्यम खोज रही थी ।"[16]

वस्तुतः युग प्रवर्तन की क्रांतिकारिता और मानवीयता की सहानुभूति के सम्मिलित आवेग में संजोया पर चरित्र स्वभाव से अक्खड़, वृत्ति से फक्कड़ और स्थान से घुमक्कड़ होने के बावजूद अनुभव की गंभीरता, आत्मज्ञान की गहराई और अभिव्यक्ति के बिंदासपन की एकाग्रता अपने पूरे तीव्रता और व्यापकता से ढ़ोता है । देश, काल और सीमा से परे कबीर का काव्य भारतीय साहित्य की अमूल्य धरोहर है ।

"मसि कागद छुओ नहिं, कलम गहयो नहि हाथ ।" -
"विद्या न पढ़ौ बाद नहीं जानौ ।" -

ऐसा व्यक्तित्वोचित विनम्रता दिखाने वाला 15वीं शती का सबसे शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक कवि "कबीर" अध्ययन के दृष्टिकोणों तथा परिवर्तित देशकाल परिस्थितियों के कारण आज सर्वाधिक विवादस्पद और

चर्चित चरित्र है । उनका काव्य मानवता का रक्षक और क्रांति का पोषक है, जो युगों तक समाज के सिसकियों को सांत्वना देने का काम करती है । उसी प्रकार कबीर की पारदर्शी क्रांतिकारिता, मानवीय आह्वान, निर्भीकता एवं प्रखर कविता कभी भी अप्रासंगिक नहीं हो सकती ।

संदर्भ :

1. निनेल गददरोवा - रूस में कबीर परंपरा का अध्ययन (लेख) वागर्थ मार्च-अप्रैल 2000
2. मैनेजर पाण्डेय - कबीर और आज का समय (लेख) आलोचना अप्रैल-जून 2000, पृ. 278
3. कविता से उद्धृत पंक्तियां श्याम सुन्दर दास द्वारा संपादित "कबीर-ग्रंथावली" से ली गई हैं
4. श्याम सुन्दर दास - कबीर ग्रंथावली, पृ. 47
5. रामचन्द्र शुक्ल - गोस्वामी तुलसीदास, पृ. 14
6. पुरूषोत्तम अग्रवाल - कबीर की भक्ति का सामाजिक अर्थ (शोध प्रबंध)
7. प्रेमशंकर - भक्ति काव्य का समाजशास्त्र, पृ. 67
8. वही, पृ. 68
9. संत विवेकदास - कबीर की चादर मैली हो रही है (लेख) साभार विवेकदास
10. मैनेजर पाण्डेय - कबीर और आज का समय (लेख) आलोचना अप्रैल-जून 2000, पृ. 277
11. नामवर सिंह - कबीर का सच (लेख) हंस, नवंबर 1999 पृ. 15
12. पुरूषोत्तम अग्रवाल - कवि कबीर की खोज (लेख)
13. साभार, केदारनाथ द्विवेदी - कबीर और कबीर पंथ, पृ. 10
14. हजारी प्रसाद द्विवेदी - कबीर, पृ. 184
15. वही, पृ. 185
16. केदारनाथ द्विवेदी - कबीर और कबीर पंथ, पृ. 150
17. प्रेमशंकर - भक्ति काव्य की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना, भूमिका से

****

उपसंहार

अध्ययन के दृष्टिकोणों तथा परिवर्तित देश-काल परिस्थितियों के कारण कबीर आज सर्वाधिक विवादास्पद और चर्चित चरित्र हैं । मध्यकाल से लेकर वर्तमान समय तक समाज अपनी सुविधानुसार कबीर के शब्दों से नये-नये अर्थ ग्रहण करता रहा है जो उनके होने या महसूस करने का जीवंत प्रमाण है । अधिकांश विद्वानों ने मध्यकालीन परिस्थितियों को केन्द्र में रखकर ही कबीर का मूल्यांकन किया है और समस्या यहीं से शुरू होती है । इस्लाम के आगमन को धर्म विद्वेष की संज्ञा देना मध्यकाल की परिस्थितियों की सही व्याख्या नहीं है । इतिहासकारों ने यह सिद्ध कर दिया है कि इस्लाम के आगमन से भारतीय संस्कृति को सिर्फ नुक्सान ही नहीं हुआ बल्कि एक नई संस्कृति के विकास की रूपरेखा भी तैयार हुई । उस नई संस्कृति के आगमन ने भारतीय संस्कृति को कई स्तरों पर प्रभावित भी किया है । इस्लाम के आगमन के पश्चात नगरीय आर्थिकता के तहत सक्रिय शिल्पी प्रवक्ता एक सांस्कृतिक आंदोलन के साथ न्यून तबकों की एकजुटता के लिए आगे आये । इस आंदोलन का मूल साधन भक्ति था, जिसकी नींव पर कबीर ने मानसिक दासता से निजात पाने के लिए निम्न दलित, शोषित वर्गों के लिए आत्मविश्वासपूर्ण एक नई सांस्कृतिक संरचना का सूत्रपात किया था । राजनीतिक परिवर्तनों के फलस्वरूप प्रौद्योगिकीय विकास को एक नई गति मिली, श्रमिक वर्गों में चेतना का विकास हुआ । सामाजिक व्यवस्था के अत्याचारों के कारण शिल्पी, श्रमजीवियों, किसानों तथा निम्न वर्गों की आर्थिक दशा चिंतनीय थी । कबीर ने शोषितों के अन्दर शोषितों के खिलाफ एक नई चेतना के उन्मेष में अपनी वाणी का उपयोग किया ।

कबीर के काव्य में दैवीय चरित्र तो एक आधार है मुख्य चिंता सामाजिक प्रतिबद्धता की है । कबीर को सिर्फ आड़े धर्म की चिंता नहीं थी बल्कि सम्पूर्ण मानव धर्म की चिंता थी । निर्गुण निराकार ईश्वर की कल्पना समाज के सभी वर्गों के लिए मानसिक शांति का मार्ग प्रशस्त करती

है । कबीर ने अपनी कविता के माध्यम से सिर्फ निम्न श्रेणी की जनता में ही आत्मभाव नहीं जगाया बल्कि समूचे मनुष्य जाति की सोच प्रक्रिया को आंदोलित भी किया ताकि वे विचार मंथन के पश्चात प्रगतिशील मूल्यों का संवाहक बन सके । उनके काव्य में अपनी जातीय अस्मिता का स्वर खुलकर सामने आता है, लेकिन उनका व्यक्तिक दुःख सार्वजनिक दुःख में बदल जाता है । उनके दुःख को उनके वर्गाधार तक सीमित नहीं किया जा सकता । वे अपने समय से सचमुच विक्षुब्ध थे और उनकी यातना एक मर्मी कवि की यातना ही है । उनका पूरा काव्य लोक एक जुलाहे के जीवन यथार्थ के अनुभवों से बुना हुआ है । सिर्फ इस आधार पर उनके दुःख को जुलाहे के दुःख के रूप में कदापि प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता । कबीर का समाज विभिन्न धर्म साधनाओं का चौराहा था । समाज में ब्राह्मण मास्टर रेस था जिसका कि आध्यात्मिक और आर्थिक नियंत्रण खुद के पास सुरक्षित रहता । कबीर ने वर्णाश्रम की एक जीवन निर्धारक रूप में प्रतिरोध किया । वे सिर्फ दलितों के पक्षधर ही नहीं थे बल्कि अपहृत अस्मिता वाले तमाम व्यक्तियों कीमुक्ति के स्वरदाता थे । उनकी अस्मिता थी एक साधारण मनुष्य की मुक्ति । अस्मिता के पूर्वाग्रही सामाजिक बन्धनों को नकार कर उसे तोड़ने का आह्वाहन किया था कबीर ने ।

सांस्कृतिक संकट के शीर्ष व्याख्याता कबीर अपने समय के समाज में अधिकांश लोगों के लिए दीप्त स्फुरन थे । यूनीवर्सल पहचान की आवाज कबीर के काव्य में बखूबी सुनी जा सकती है । उनकी संचेतना में व्यक्ति एवं समाज के लिए निर्माणकारी ऊर्जा थी, एक भावनात्मक प्रत्यक्षता थी और सामाजिक वास्तवपन था । इसलिए कबीर का काव्य वैयक्तिक सत्ता की परीधि से बाहर निकलकर वैश्विक सत्ता के निर्माण के लिए प्रयासरत दीखता है ।

हिंदी साहित्य में कबीर अकेले ऐसे कवि हैं जिनकी जिन्दगी और कविता परिभाषा के पतन नहीं आती । उनके काव्य का चिंतन पक्ष सिर्फ सत्यान्वेषण चाहता है । सभी मनुष्यों के विचार एक-से हों यह उनका दिवास्वप्न था और उनके काव्य में तत्कालीन समाज की जो नग्न सच्चाई अभिव्यक्त है उसके केन्द्र में प्रेम और दुःख का अनन्य संभाव है । वर्तमान समय उनके शब्दों से माध्यम से अपने आपको जान सके उनके काव्य की अप्रतिम महानता होगी । यह उनकी चिन्ता नहीं है कि कौन उन्हें और किस रूप में अपने हक में इस्तेमाल करेगा । वे केवल भारत के लिए ही नहीं सम्पूर्ण विश्व के सभी मानवों के लिए प्रासंगिक हैं और उनकी कविता हमेशा प्रेरणा स्रोत बनी रहेंगी ।

युग परिवर्तन की क्रांतिकारिता और मानवीयता की सहानुभूति के सम्मिलित आवेग में संजोया यह चरित्र "कबीर" स्वभाव से अक्खड़, वृत्ति से फक्कड़ और स्थान से घुमक्कड़ होने के बावजूद अनुभव की गंभीरता, आत्मज्ञान की गहराई और अभिव्यक्ति के चिंदात्मपन की समग्रता अपने पूरे तीव्रता और व्यापकता से होता है । देश, काल और सीमा से परे कबीर का काव्य विश्व साहित्य की अमूल्य धरोहर है ।

****

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कबीर ग्रंथावली : श्याम सुन्दर दास, 20वीं संस्करण, संवत 2055, नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी

2. कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी, 5वां संस्करण, 1987, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

3. कबीर के आलोचक : डा. धर्मवीर, संस्करण 1997, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

4. कबीर : नई सदी में भाग-3 : डा. धर्मवीर, प्रथम संस्करण 2000, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

5. कबीर ऐंड कबीर पंथ : जी.एच. वेस्टकॉट, भारतीय प.हा. वाराणसी

6. कबीर और कबीर पंथ : केदारनाथ द्विवेदी, द्वितीय संस्करण 1995, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, इलाहाबाद

7. कबीर बाणी : अली सरदार जाफरी, पहला राजकमल संस्करण, 1999, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली

8. कबीर : द स्पस्टल ऑफ हिन्दू-मुस्लिम यूनिटी : मोहम्मद हिदायतुल्ला, प्रथम संस्करण 1977, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ल

9. कबीर : विजेन्द्र स्नातक (सं.) प्रथम संस्करण 1965, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

10. कबीर की भक्ति का सामाजिक अर्थ (शोध प्रबंध) : पुरूषोत्तम अग्रवाल, भारतीय भाषा केन्द्र, जे.एन.यू., 1985

11. वन हंड्रेड पॉयम्स आफ कबीर : रवीन्द्रनाथ टैगोर, संस्करण 1962, मैकमिलन ऐंड कम्पनी लि., लंदन

12. भक्ति काव्य का समाजशास्त्र : प्रेम शंकर, दूसरा संस्करण, 1993, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

13. भक्ति काव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना : प्रेम शंकर, मैकमिलन प्रेस, नई दिल्ली संस्करण 1979

14. भक्ति आन्दोलन : इतिहास और संस्कृति : कुंवरपाल (सं.) संस्करण 1995, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

15. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य : मैनेजर पाण्डेय, संस्करण 1993, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

16. मध्यकालीन भारत : हरिश्चन्द्र वर्मा (सं.) द्वितीय संस्करण 1985, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

17. हिंदी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, 31वां संस्करण, संवत् 2053, नागरी प्रचारणी सभा वाराणसी

18. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका : मैनेजर पाण्डेय, प्रथम संस्करण 1989 हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़

19. गोस्वामी तुलसीदास : रामचंद्र शुक्ल, 14वां संस्करण, संवत् 2053, नागरी प्रचारणी सभा वाराणसी

20. जायसी : विजयदेवनारायण साही
द्वितीय संस्करण, 1993
हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद

21. संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध : पुरूषोत्तम अग्रवाल, प्रथम संस्करण 1995, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

22. कर्वेंशन ऑफ कल्चरल आइडेंटिटी : हॉल एण्ड डयूगे (सं.), संस्करण 1996, सैग. लंदन

पत्र-पत्रिकाएं व अन्य

1. आलोचना, त्रैमासिक अप्रैल-जून अंक 2000, संपादक नामवर सिंह वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
2. हंस, नवम्बर अंक, 1999, संपादक राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन, न.दि.
3. कसौटी, त्रैमासिक, प्रवेशांक, संपादक नन्द किशोर नवल, पटना
4. वागार्थ, मार्च-अप्रैल अंक 2000, संपादक प्रभाकर क्षोत्रिय, भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता
5. आजकल, अप्रैल अंक 1999, संपादक सुभाष सेतिया, प्रकाशन विभाग, नं.दि
6. हंस, नवम्बर अंक 1999, संपादक राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन, न.दि.
7. ढाई आखर (भाग-1) संपादक विवेक दास, कबीर भवन, नई दिल्ली
8. "कबीर की चादर मैली हो रही है" (लेख), साभार, विवेकदास
9. राष्ट्रीय सहारा, दैनिक, 5 नवम्बर, 1998, दिल्ली संस्करण
10. राष्ट्रीय सहारा, दैनिक, 8 नवम्बर, 1998, दिल्ली संस्करण
11. इनसाइक्लोपिडिया आफ सोशिओलॉजी - एडगर एफ. बोरगेट एवं मेरी एल. बोरगेट (सं.), 1992, मैकमिलन प. कं., न्यूयार्क
12. इंटरनेशनल इनसाइक्लोपिडिया आफ सोशल सांइसिज - डेविड एल. सिल्स (सं.) वॉल्यूम-7, द मैकमिलन कं. ऐंड द फ्री प्रेस, न्यूयार्क, 1968

Jawaharlal Nehru University Library